गीता-बोध

मो. क. गांधी

प्रकाशक

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी २२१ ००१

फोन : ०५४२-२४४०३८५

Email: sarvodayavns@yahoo.co.in

गीता-बोध

मो. क. गांधी

प्रकाशक

सर्व सेवा संघ-प्रकाशन

राजघाट, वाराणसी २२१ ००१

फोन : ०५४२-२४४०३८५

Email: sarvodayavns@yahoo.co.in

प्रास्ताविक

गीता महाभारतका एक नन्हा-सा विभाग है। महाभारत ऐतिहासिक ग्रंथ माना जाता है, पर हमारे मतसे महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं हैं, बल्कि धर्मग्रंथ हैं। या उसे ऐतिहासिक ही कहना चाहें तो वह आत्माका इतिहास है और वह हजारों वर्ष पहले क्या हुआ, यह नहीं बताता, बल्कि प्रत्येक मनुष्य-देहमें क्या जारी है, इसकी वह एक तस्वीर है। महाभारत और रामायण दोनोंमें देव और असुरके – राम और रावणके बीच नित्य चलनेवाली लड़ाईका वर्णन है। ऐसे वर्णनमें गीता कृष्ण-अर्जुनके बीचका संवाद है। उस संवादका वर्णन अंध धृतराष्ट्रसे संजय करता है। गीताके मानी हैं गायी गयी। इसमें 'उपनिषद्' अध्याहार है। अत: पूरा अर्थ हुआ, गाया गया उपनिषद्। उपनिषद् अर्थात् ज्ञान-बोध। यानी गीताका अर्थ हुआ श्रीकृष्णद्वारा अर्जुनको दिया हुआ बोध। हमें यह समझकर गीता पढ़नी चाहिए कि हमारी देहमें अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान् आज विराजमान हैं और जब जिज्ञासु अर्जुनरूप होकर धर्म-संकटमें अन्तर्यामी भगवान् से पूछेगा, उसकी शरण लेगा तो उस समय वह हमें शरण देनेको तैयार मिलेंगे। हम ही सोये हैं, अंतर्यामी तो सदा जाग्रत है। वह बैठा राह देखता है कि हममें कब जिज्ञासा उत्पन्न हो। पर हमें सवाल भी पूछना नहीं आता, सवाल पूछनेकी मनमें भी नहीं उठती। इस कारण गीता-सरीखी पुस्तकका नित्य ध्यान धरते हैं, उसका भजन करते-करते अपनेमें धर्म-जिज्ञासा उत्पन्न करनेकी इच्छा करते हैं, सवाल पूछना सीखना चाहते हैं और जब-जब मुसीबतमें पड़ते हैं, तब-तब अपनी मुसीबत दूर करनेके लिए हम गीताकी शरण जाते हैं और उससे आश्वासन लेते हैं। इसी दृष्टिसे गीता पढ़नी है। वह हमारी सद्गुरुरूप है, मातारूप है और हमें विश्वास रखना चाहिए कि उसकी गोदमें सिर रखकर हम सही-सलामत पार हो जायँगे। गीताके द्वारा अपनी सारी धार्मिक गुत्थियाँ सुलझा लेंगे। इस भाँति नित्य गीताका मनन करनेवालोंको उसमेंसे नित्य नये अर्थ मिलेंगे। ऐसी एक भी धर्मकी उलझन नहीं है कि जिसे गीता न सुलझा सकती हो। हमारी अल्प श्रद्धाके कारण हमें उसका पढ़ना-समझना न आये तो वह दूसरी बात है, पर हम अपनी श्रद्धा नित्य-नित्य बढ़ाते जाने और अपनेको सावधान रखनेके लिए गीताका पारायण करते हैं। इस भाँति गीताका मनन करते हुए जो कुछ अर्थ मुझे उसमेंसे मिला है और आज भी मिलता जाता है, उसका सार आश्रमवासियोंकी सहायताके लिए यहाँ दे रहा हूँ।

यरवदा-जेल **– मो. क. गांधी**

११-११-१९३०

भूमिका

जिस पुस्तकका हम नित्य थोड़ा-थोड़ा करके पारायण और मनन करते हैं, जिसे अपने लिए हमने आध्यात्मिक दीपस्तंभरूप बना रखा है, मैंने उसे जैसा समझा है, उसपर अपने विचार देनेकी इच्छा है। यह खयाल पहले एक पत्र पाकर हुआ था। लेकिन गत सप्ताह भाई के पत्रने मुझे इसके लिए तैयार कर दिया। वह लिखते हैं कि वह 'अनासक्तियोग' पढ़ते हैं, लेकिन समझनेमें बड़ी कठिनाई पड़ती है। सबकी समझमें आने योग्य भाषामें अर्थ करनेका प्रयत्न करते हुए भी, शब्दश: अनुवाद देनेमें समझनेकी कठिनाई तो अवश्य रहेगी। विषय ही जहाँ कठिन हो, वहाँ सरल भाषा क्या कर सकती है? इसलिए अब विषयको ही सरल रीतिसे रखनेका प्रयत्न करना चाहता हूँ। जिस वस्तुका हम उठते-बैठते उपयोग करना चाहते हैं, जिसकी सहायतासे अपनी सारी आंतरिक उलझनें सुलझानेका प्रयत्न करते हैं, उस ग्रंथको जितनी रीतियोंसे जैसे भी समझा जा सके, वैसे समझने और बार-बार उसका मनन करनेसे अन्तमें हम तन्मय हो सकते हैं। मैं तो अपनी सारी कठिनाइयोंमें गीता-माताके पास दौड़ा आता हूँ और अबतक आश्वासन पाता आया हूँ। दूसरोंको भी, जो उसमें आश्वासन पानेके इच्छुक हैं, शायद, जिस रीतिसे मैं उसे रोज- रोज समझता जाता हूँ, वह रीति जानकर, कुछ अधिक मदद मिले। उस रीतिको जानकर उनको कुछ नया प्रकाश पाना भी असंभव नहीं है।

यरवदा-जेल **– मो. क. गांधी**

४-११-१९३०

प्रार्थना

ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:।।

ईशावास्यम् इदम् सर्वम्

यत् किं च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुज्जीथा (:)

मा गृध: कस्यस्विद् धनम्॥

नाम-माला

ॐ तत् सत् श्री नारायण तू, पुरुषोत्तम गुरु तू।

सिद्ध बुद्ध तू, स्कन्द विनायक, सविता पावक तू।।

ब्रह्म मज्द तू यह्व शक्ति तू, ईशु-पिता प्रभु तू।

रुद्र विष्णु तू, राम कृष्ण तू, रहीम ताओ तू॥

वासुदेव गो विश्वरूप तू, चिदानन्द हरि तू।

अद्वितीय तू, अकाल निर्भय, आत्मलिंग शिव तू॥

एकादश व्रत

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह।

शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन॥

सर्वधर्मसमानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना।

विनम्र व्रतनिष्ठा से ये एकादश सेव्य हैं।।

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे,

परदु:खे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।

सकळ लोकमां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे,

वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन धन जननी तेनी रे।

समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेणे मात रे,

जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।

मोह माया व्यापे नहि जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे,

रामनामशु टाळी लागी, सकळ तीरथ तेना तनमां रे।

वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे,

भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करतां, कुल एकोत्तेर तार्या रे।

* * * * *

सुने री मैंने, निर्बल के बल राम।

पिछली साख भरूं संतन की आड़े सँवारे काम।।

जब लग गज बल अपनो बरत्यो नेक सर्यो नहिं काम।

निर्बल ह्वै बल राम पुकार्यो आये आधे नाम॥

द्रुपद-सुता निर्बल भइ ता दिन गहलाय निजधाम।

दु:शासन की भुजा थकित भई, बसन रूप भये श्याम॥

अप-बल, तप-बल और बाहु-बल चौथो है बल दाम।

'सूर' किशोर कृपातें सब बल हारे को हरिनाम॥

.

अनुक्रम

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

बारहवाँ अध्याय

तेरहवाँ अध्याय

चौदहवाँ अध्याय

पन्द्रहवाँ अध्याय

सोलहवाँ अध्याय

सत्रहवाँ अध्याय

अठारहवाँ अध्याय

पहला अध्याय

मंगल-प्रभात

११-११-१९३०

पांडव और कौरवोंके अपनी सेनासहित युद्दके मैदान कुरुक्षेत्रमें एकत्र होनेपर दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास जाकर दोनों दलोंके मुख्य-मुख्य योद्धाओंके बारेमें चर्चा करता है। युद्धकी तैयारी होनेपर दोनों ओरके शंख बजते हैं और अर्जुनके सारथी श्रीकृष्ण भगवान् उसका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें लाकर खड़ा करते हैं। अर्जुन घबराता है और श्रीकृष्णसे कहता है कि मैं इन लोगोंसे कैसे लड़ूँ? दूसरे हों तो मैं तुरंत भिड़ सकता हूँ, लेकिन ये तो अपने स्वजन ठहरे। सब चचेरे भाई-बंधु हैं। हम एक साथ पले हैं। कौरव और पांडव कोई दो नहीं हैं। द्रोण केवल कौरवोंके ही आचार्य नहीं हैं, हमें भी उन्होंने सब विद्याएँ सिखायी हैं। भीष्म तो हम सभीके पुरखा हैं। उनके साथ लड़ाई कैसी? माना कि कौरव आततायी हैं, उन्होंने बहुत दुष्ट कर्म किये हैं, अन्याय किये हैं, पांडवोंकी जगह-जायदाद छीन ली है, द्रौपदी जैसी महासतीका अपमान किया है। यह सब उनके दोष अवश्य हैं, पर मैं उन्हें मारकर कहाँ रहूँगा? ये तो मूढ़ हैं, मैं इन-जैसा कैसे बनूँ? मुझे तो कुछ समझ है, सारासारका विवेक है। मुझे यह जानना चाहिए कि अपनोंके साथ लड़नेमें पाप है। चाहे उन्होंने हमारा हिस्सा हजम कर लिया हो, चाहे वे हमें मार ही डालें, तब भी हम उनपर हाथ कैसे उठायें? हे कृष्ण ! मैं तो इन सगे-संबंधियोंसे नहीं लडूँगा।

इतना कहते-कहते अर्जुनकी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया और वह अपने रथमें गिर पड़ा।

यह पहले अध्यायका प्रसंग है। इसका नाम 'अर्जुन-विषाद-योग’ है। विषादके मानी दुःखके होते हैं। जैसा दुःख अर्जुनको हुआ, वैसा हम सबको होना चाहिए। धर्म-वेदना तथा धर्म-जिज्ञासाके बिना ज्ञान नहीं मिलता। जिसके मनमें अच्छे और बुरेका भेद जाननेकी इच्छातक नहीं होती, उसके सामने धर्म-चर्चा कैसी? कुरुक्षेत्रका युद्ध तो निमित्तमात्र है, सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा शरीर है। यही कुरुक्षेत्र है और धर्मक्षेत्र भी। यदि इसे हम ईश्वरका निवास-स्थान समझें और बनायें तो यह धर्मक्षेत्र है। इस क्षेत्रमें कुछ-न-कुछ लड़ाई तो नित्य चलती ही रहती है और ऐसी अधिकांश लड़ाइयाँ 'मेरा'-‘तेरा' को लेकर होती

हैं। अपने-परायेके भेदभावसे पैदा होती हैं। इसीलिए आगे चलकर भगवान् अर्जुनसे कहेंगे कि 'राग', ‘द्वेष’ सारे अधर्मकी जड़ है। जिसे ‘अपना’ माना, उसमें राग पैदा हुआ, जिसे 'पराया' जाना, उसमें द्वेष-वैरभाव आ गया। इसलिए 'मेरे'- ‘तेरे’ का भेद भूलना चाहिए, या यों कहिये कि राग-द्वेषको तजना चाहिए। गीता और सभी धर्म-ग्रंथ पुकार-पुकारकर यही कहते हैं। पर कहना एक बात है और उसके अनुसार करना दूसरी बात। हमें गीता इसके अनुसार करनेकी भी शिक्षा देती है। कैसे, सो आगे समझनेकी कोशिश की जायगी।

दूसरा अध्याय

सोम-प्रभात

१७-११-१९३०

अर्जुनको जब कुछ चेत हुआ तो भगवान् ने उसे उलाहना दिया और कहा कि यह मोह तुझे कहाँसे आ गया? तेरे-जैसे वीर पुरुषको यह शोभा नहीं देता। पर अर्जुनका मोह यों टलनेवाला नहीं था। वह लड़नेसे इनकार करके बोला : "इन सगे-संबंधियों और गुरुजनोंको मारकर, मुझे राजपाट तो दरकिनार, स्वर्गका सुख भी नहीं चाहिए। मैं कर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ। इस स्थितिमें धर्म क्या है, यह मुझे नहीं सूझता। मैं आपकी शरण हूँ, मुझे धर्म बतलाइये।"

इस भाँति अर्जुनको बहुत व्याकुल और जिज्ञासु देखकर भगवान्को दया आयी। वह उसे समझाने लगे : तू व्यर्थ दु:खी होता है और बेसमझे-बूझे ज्ञानकी बातें करता है। जान पड़ता है कि तू देह और देहमें रहनेवाले आत्माका भेद ही भूल गया है। देह मरती है, आत्मा नहीं मरती। देह तो जन्मसे ही नाशवान् है, देहमें जैसी जवानी और बुढ़ापा आता है, वैसे ही उसका नाश भी होता है। देहका नाश होनेपर देहीका नाश कभी नहीं होता। देहका जन्म है, आत्माका जन्म नहीं है। वह तो अजन्मा है। वह बढ़ता-घटता नहीं। वह तो सदैव था, आज है और आगे भी रहनेवाला है। फिर तू काहेका शोक करता है? तेरा शोक तेरे मोहके कारण है। इन कौरव आदिको तू अपना मानता है, इसलिए तुझे ममता हो गयी है, पर तुझे समझना चाहिए कि जिस देहसे तुझे ममता है, वह तो नाशवान् ही है। उसमें रहनेवाले जीवका विचार करनेपर तो तत्काल तेरी समझमें आ जायगा कि उसका नाश तो कोई कर ही नहीं सकता। उसे न अग्नि जला सकती है, न वह पानीमें डूब सकता है, न वायु उसे सुखा सकती है। इसके सिवा, तू अपने धर्मको तो सोच! तू तो क्षत्रिय है। तेरे पीछे यह सेना इकट्ठी हुई है। अब अगर तू कायर बन जाय, तो तू जो चाहता है उससे उलटा नतीजा होगा और तेरी हँसी होगी। आजतक तेरी गिनती बहादुरोंमें हुई है। अब यदि तू अधबीचमें लड़ाई छोड़ देगा तो लोग कहेंगे कि अर्जुन कायर होकर भाग गया। यदि भागनेमें धर्म होता तो लोकनिंदाकी कोई परवाह न थी, पर यहाँ तो यदि तू भागे तो अधर्म होगा और लोकनिंदा उचित समझी जायगी, यह दोहरा दोष होगा।

यह तो मैंने तेरे सामने बुद्धिकी दलील रखी, आत्मा और देहका भेद बताया और तेरे कुलधर्मका तुझे भान कराया, पर अब तुझे मैं कर्मयोगकी बात समझाता हूँ। इस योगपर अमल करनेवालेको कभी नुकसान नहीं होता। इसमें तर्ककी बात नहीं है, आचरणकी है, करके अनुभव पानेकी बात है, और यह तो प्रसिद्ध अनुभव है कि हजारों मन तर्ककी अपेक्षा तोलाभर आचरणकी कीमत अधिक है। इस आचरणमें भी यदि अच्छे-बुरे परिणामका तर्क आ घुसे तो वह दूषित हो जाता है। परिणामके विचारसे ही बुद्धि मलिन हो जाती है। वेदवादी लोग कर्मकांडमें पड़कर अनेक प्रकारके फल पानेकी इच्छासे अनेक क्रियाएँ आरम्भ कर बैठते हैं। एकसे फल न मिलनेपर दूसरीके पीछे दौड़ते हैं। फिर कोई तीसरी बता देता है तो उसके पीछे हैरान होते हैं, और ऐसा करनेमें उनकी मति भ्रममें पड़ जाती है। वास्तवमें मनुष्यका धर्म फलका विचार छोड़कर कर्तव्य-कर्म किये जानेका है! इस समय यह युद्ध तेरा कर्तव्य है, इसे पूरा करना तेरा धर्म है। लाभ-हानि, हार-जीत तेरे हाथमें नहीं है। तू गाड़ीके नीचे चलनेवाले कुत्तेकी भाँति इसका बोझ क्यों ढोता है? हार-जीत, सरदी-गरमी, सुख-दुःख देहके साथ लगे ही हुए हैं, उन्हें मनुष्यको सहना चाहिए। जो भी नतीजा हो, उसके विषयमें निश्चिंत रहकर तथा समता रखकर मनुष्यको अपने कर्तव्यमें तन्मय रहना चाहिए। इसका नाम योग है और इसीमें कर्मकुशलता है। कार्यकी सिद्धि कार्यके करनेमें छिपी है, उसके परिणाममें नहीं। तू स्वस्थ हो, फलका अभिमान छोड़ और कर्तव्यका पालन कर।

यह सुनकर अर्जुन पूछता है : यह तो मेरे बूतेके बाहर जान पड़ता है। हार-जीतका विचार छोड़ना, परिणामका विचार ही न करना, ऐसी समता, ऐसी स्थिरबुद्धि, कैसे आ सकती है? मुझे समझाइये कि ऐसी स्थिर बुद्धिवाले कैसे होते हैं, उन्हें कैसे पहचाना जा सकता है?

तब भगवान् ने जवाब दिया :

हे अर्जुन ! जिस मनुष्यने अपनी कामनामात्रका त्याग किया है और जो अपने अन्तरमें ही संतोष प्राप्त करता है, वह स्थिरचित, स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि या समाधिस्थ कहलाता है। ऐसा मनुष्य न दुःखसे दुःखी होता है, न सुखसे फूल उठता है। सुख-दुःखादि पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं। इसलिए ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य कछुएकी भाँति अपनी इन्द्रियोंको समेट लेता है, पर कछुआ तो जब किसी दुश्मनको देखता है, तब अपने अंगोंको ढालके नीचे समेटता है; लेकिन मनुष्यकी इन्द्रियोंपर तो विषय नित्य चढ़ाई करनेको

खड़े ही हैं, अत: उसे तो हमेशा इन्द्रियोंको समेटे रखना और स्वयं ढालरूप होकर विषयोंके मुकाबलेमें लड़ना है। यह असली युद्ध है। कोई तो विषयोंसे बचनेको देह-दमन करता है, उपवास करता है। यह ठीक है कि उपवास-कालमें इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर नहीं दौड़तीं, पर अकेले उपवाससे रस नहीं सूख जाता। उपवास छोड़नेपर यह तो और भी बढ़ जाता है। रसको दूर करनेके लिए तो ईश्वरका प्रसाद चाहिए। इन्द्रियाँ तो ऐसी बलवान् हैं कि वे मनुष्यको उसके सावधान न रहनेपर जबरदस्ती घसीट ले जाती हैं। इसलिए मनुष्यको इन्द्रियोंको हमेशा अपने वशमें रखना चाहिए। पर यह हो तब सकता है, जब वह ईश्वरका ध्यान धरे, अंतर्मुख हो, हृदयमें रहनेवाले अंतर्यामीको पहचाने और उसकी भक्ति करे। इस प्रकार जो मनुष्य मुझमें परायण रहकर अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखता है, वह स्थिरबुद्धि योगी कहलाता है। इससे विपरीत करनेवालेके हाल भी मुझसे सुन। जिसकी इन्द्रियाँ स्वच्छंदरूपसे बरतती हैं, वह नित्य विषयोंका ध्यान धरता है। तब उसमें उसका मन फँस जाता है। इसके सिवा उसे और कुछ सूझता ही नहीं। ऐसी आसक्तियोंसे काम पैदा होता है। बादको उसकी पूर्ति न होनेपर उसे क्रोध आता है। क्रोधातुर तो बावला-सा हो ही जाता है, आपेमें नहीं रह जाता। अत: स्मृतिभ्रंशके कारण जो-सो बकता और करता है। ऐसे व्यक्तिका अंतमें नाशके सिवा और क्या-होगा? जिसकी इन्द्रियाँ यों भटकती फिरती हैं, उसकी हालत पतवाररहित नावकी-सी हो जाती है। चाहे जो हवा नावको इधर-उधर घसीट ले जाती है और अंतमें किसी चट्टानसे टकराकर नाव चूर हो जाती है। जिसकी इद्धियाँ भटका करती हैं, उसके ये हाल होते हैं। अत: मनुष्यको कामनाओंको छोड़ना और इन्द्रियोंपर काबू रखना चाहिए। इससे इन्द्रियाँ न करने योग्य कार्य नहीं करेंगी, आँखें सीधी रहेंगी, पवित्र वस्तुको ही देखेंगी, कान भगवद्-भजन सुनेंगे, या दु:खीकी आवाज सुनेंगे। हाथ-पाँव सेवा-कार्यमें रुके रहेंगे और ये सब इन्द्रियाँ मनुष्यके कर्तव्य-कार्यमें ही लगी रहेंगी और उसमेंसे उन्हें ईश्वरकी प्रसादी मिलेगी। वह प्रसादी मिली कि सारे दु:ख गये समझो। सूर्यके तेजसे जैसे बर्फ पिघल जाती है, वैसे ईश्वर-प्रसादीके तेजसे दु:खमात्र भाग जाते हैं और ऐसे मनुष्यको स्थिरबुद्धि कहते हैं। पर जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसे अच्छी भावना कहाँसे आयेगी? जिसे अच्छी भावना नहीं, उसे शांति कहाँ? जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ सुख कहाँ? स्थिरबुद्धि मनुष्यको जहाँ दीपककी भाँति साफ दिखाई देता है, वहाँ अस्थिर मनवाले दुनियाकी गड़बड़में पड़े रहते हैं और देख ही नहीं सकते, और ऐसी गड़बड़वालोंको जो स्पष्ट लगता है, वह समाधिस्थ योगीको

स्पष्टरूपसे मलिन लगता है और वह उधर नजरतक नहीं डालता। ऐसे योगीकी तो ऐसी स्थिति होती है कि नदी-नालोंका पानी जैसे समुद्रमें समा जाता है, वैसे विषयमात्र इस समुद्ररूप योगीमें समा जाते हैं। और ऐसा मनुष्य समुद्रकी भाँति हमेशा शान्त रहता है। इससे जो मनुष्य सब कामनाएँ तजकर, निरहंकार होकर, ममता छोड़कर, तटस्थरूपसे बरतता है, वह शांति पाता है। यह ईश्वर-प्राप्तिकी स्थिति है और ऐसी स्थिति जिसकी मृत्युतक टिकती है, वह मोक्ष पाता है।

तीसरा अध्याय

सोम-प्रभात

२४-११-१९३०

स्थितप्रज्ञके लक्षण सुनकर अर्जुनको ऐसा लगा कि मनुष्यको शांत होकर बैठ रहना चाहिए। उसके लक्षणोंमें कर्मका तो नामतक भी उसने नहीं सुना। इसलिए भगवान् से पूछा : “आपके वचनोंसे तो लगता है कि कर्मसे ज्ञान बढ़कर है। इससे मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है। यदि ज्ञान अच्छा हो तो फिर मुझे घोर कर्ममें क्यों उतार रहे हैं? मुझे साफ कहिये कि मेरा भला किसमें है?”

तब भगवान् ने उत्तर दिया :

हे पापरहित अर्जुन ! आरंभसे ही इस जगत् में दो मार्ग चलते आये हैं : एकमें ज्ञानकी प्रधानता है और दूसरेमें कर्मकी। पर तू स्वयं देख ले कि कर्मके बिना मनुष्य अकर्मी नहीं हो सकता, बिना कर्मके ज्ञान आता ही नहीं। सब छोड़कर बैठ जानेवाला मनुष्य सिद्धपुरुष नहीं कहला सकता।

तू देखता है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ तो करता ही है। उसका स्वभाव ही उससे कुछ करायेगा। जगत्का यह नियम होनेपर भी जो मनुष्य हाथ-पाँव ढीले करके बैठा रहता है और मनमें तरह-तरहके मनसूबे करता रहता है, उसे मूर्ख कहेंगे और वह मिथ्याचारी भी गिना जायगा। क्या इससे यह अच्छा नहीं है कि इन्द्रियोंको वशमें रखकर, राग-द्वेष छोड़कर, शोर-गुलके बिना, आसक्तिके बिना अर्थात् अनासक्तभावसे, मनुष्य हाथ-पाँवोंसे कुछ कर्म करे, कर्मयोगका आचरण करे? नियत कर्म—तेरे हिस्सेमें आया हुआ सेवा-कार्य—तू इंद्रियोंको वशमें रखकर करता रह। आलसीकी भाँति बैठे रहनेसे यह कहीं अच्छा है। आलसी होकर बैठे रहनेवालेके शरीरका अंतमें पतन हो जाता है। पर कर्म करते हुए इतना याद रखना चाहिए कि यज्ञ-कार्यके सिवा सारे कर्म लोगोंको बंधनमें रखते हैं। यज्ञके मानी हैं, अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरेके लिए, परोपकारके लिए, किया हुआ श्रम अर्थात् संक्षेपमें ‘सेवा’, और जहाँ सेवाके निमित्त ही सेवा की जायगी, वहाँ आसक्ति, राग-द्वेष नहीं होगा। ऐसा यज्ञ, ऐसी सेवा, तू करता रह। ब्रह्माने जगत् उपजानेके साथ-ही-साथ यज्ञ भी उपजाया, मानो हमारे कानमें यह मंत्र फुँका कि पृथ्वीपर जाओ, एक-दूसरेकी सेवा करो और फूलो-फलो, जीवमात्रको देवतारूप जानो, इन देवोंकी

सेवा करके तुम उन्हें प्रसन्न रखो, वे तुम्हें प्रसन्न रखेंगे। प्रसन्न हुए देव तुम्हें बिना माँगे मनोवांछित फल देंगे। इसलिए यह समझना चाहिए कि लोक-सेवा किये बिना, उनका हिस्सा उन्हें पहले दिये बिना, जो खाता है, वह चोर है और जो लोगोंका, जीवमात्रका, भाग उन्हें पहुँचानेके बाद खाता है या कुछ भोगता है, उसे वह भोगनेका अधिकार है अर्थात् वह पापमुक्त हो जाता है। इससे उलटा, जो अपने लिए ही कमाता है - मजदूरी करता है - वह पापी है और पापका अन्न खाता है। सृष्टिका नियम ही यह है कि अन्नसे जीवोंका निर्वाह होता है। अन्न वर्षासे पैदा होता है और वर्षा यज्ञसे अर्थात् जीवमात्रकी मेहनतसे उत्पन्न होती है। जहाँ जीव नहीं हैं वहाँ वर्षा नहीं पायी जाती; जहाँ जीव हैं वहाँ वर्षा अवश्य है। जीवमात्र श्रमजीवी हैं। कोई पड़े-पड़े खा नहीं सकता और मूढ़ जीवोंके लिए जब यह सत्य है, तो मनुष्यके लिए यह कितने अधिक अंशमें लागू होना चाहिए? इससे भगवान् ने कहा, कर्मको ब्रह्माने पैदा किया। ब्रह्माकी उत्पत्ति अक्षर-ब्रह्मसे हुई, इसलिए यह समझना चाहिए कि यज्ञमात्रमें - सेवामात्रमें - अक्षरब्रह्म, परमेश्वर, विराजता है। ऐसी इस प्रणालीका जो मनुष्य अनुसरण नहीं करता, वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

मंगल-प्रभात

यह कह सकते हैं कि जो मनुष्य आंतरिक शांति भोगता है और संतुष्ट रहता है, उसे कोई कर्तव्य नहीं है, उसे कर्म करनेसे कोई फायदा नहीं, न करनेसे हानि नहीं है। किसीके संबंधमें कोई स्वार्थ उसे न होनेपर भी यज्ञकार्यको वह छोड़ नहीं सकता। इससे तू तो कर्तव्य-कर्म नित्य करता रह, पर उसमें राग-द्वेष न रख, उसमें आसक्ति न रख। जो अनासक्तिपूर्वक कर्मका आचरण करता है, वह ईश्वर-साक्षात्कार करता है। फिर जनक-जैसे निःस्पृही राजा भी कर्म करते-करते सिद्धिको प्राप्त हुए, क्योंकि वे लोकहितके लिए कर्म करते थे। तो तू कैसे इससे विपरीत बर्ताव कर सकता है? नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बड़े माने जानेवाले मनुष्य आचरण करते हैं, उसका अनुकरण साधारण लोग करते हैं। मुझे देख। मुझे काम करके क्या स्वार्थ साधना था? पर मैं चौबीसों घंटा, बिना थके, कर्म करता ही रहता हूँ और इससे लोग भी उसके अनुसार अल्पाधिक प्रमाणमें बरतते हैं। पर यदि मैं आलस्य कर जाऊँ तो जगत्का क्या हो? तू समझ सकता है कि सूर्य, चंद्र, तारे इत्यादि स्थिर हो जायँ तो जगत्का नाश हो जाय और इन सबको गति देनेवाला, नियममें रखनेवाला तो मैं ही ठहरा। किंतु लोगोंमें और मुझमें इतना फरक जरूर है कि मुझे आसक्ति नहीं है, लोग आसक्त हैं, वे स्वार्थमें पड़े भागते रहते हैं। यदि तुझ-जैसा

बुद्धिमान् कर्म छोड़े तो लोग भी वही करेंगे और बुद्धि-भ्रष्ट हो जायँगे। तुझे तो आसक्तिरहित होकर कर्तव्य करना चाहिए, जिससे लोग कर्म-भ्रष्ट न हों और धीरे-धीरे अनासक्त होना सीखें। मनुष्य अपनेमें मौजूद स्वाभाविक गुणोंके वश होकर काम तो करता ही रहेगा। जो मूर्ख होता है, वही मानता है कि 'मैं करता हूँ'। साँस लेना, यह जीवमात्रकी प्रकृति है, स्वभाव है। आँखपर किसी मक्खी आदिके बैठते ही तुरंत मनुष्य स्वभावत: ही पलकें हिलाता है। उस समय नहीं कहता कि मैं साँस लेता हूँ, मैं पलक हिलाता हूँ। इस तरह जितने कर्म किये जायँ, सब स्वाभाविक रीतिके गुणके अनुसार क्यों न किये जायँ? उनके लिए अहंकार क्या? और यों ममत्वरहित सहज कर्म करनेका सुवर्ण मार्ग है, सब कर्म मुझे अर्पण करना और ममत्व हटाकर मेरे निमित्त करना। ऐसा करते-करते जब मनुष्यमेंसे अहंकारवृत्तिका, स्वार्थका, नाश हो जाता है, तब उसके सारे कर्म स्वाभाविक और निर्दोष हो जाते हैं। वह बहुत जंजालमेंसे छूट जाता है। उसके लिए फिर कर्म-बंधन जैसा कुछ नहीं है और जहाँ स्वभावके अनुसार कर्म हो, वहाँ बलात्कारसे न करनेका दावा करनेमें ही अहंकार समाया हुआ है। ऐसा बलात्कार करनेवाला बाहरसे चाहे कर्म न करता जान पड़े, पर भीतर-भीतर तो उसका मन प्रपंच रचता ही रहता है। बाहरी कर्मकी अपेक्षा यह बुरा है, अधिक बंधनकारक है।

तो, वास्तवमें तो इंद्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें राग-द्वेष विद्यमान ही है। कानोंको यह सुनना रुचता है, वह सुनना नहीं; नाकको गुलाबके फूलकी सुगंधि भाती है, मल वगैरहकी दुर्गन्धि नहीं। सभी इंद्रियोंके संबंधमें यही बात है। इसलिए मनुष्यको इन राग-द्वेषरूपी दो ठगोंसे बचना चाहिए और इन्हें मार भगाना हो तो कर्मोंकी श्रृंखलामें न पड़े। आज यह किया, कल दूसरा काम हाथमें लिया, परसों तीसरा, यों भटकता न फिरे, बल्कि अपने हिस्सेमें जो सेवा आ जाय, उसे ईश्वरप्रीत्यर्थ करनेको तैयार रहे। तब यह भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं वह ईश्वर ही कराता है—यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहंभाव चला जायगा। इसे स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्मसे चिपटे रहना चाहिए, क्योंकि अपने लिए तो वही अच्छा है। देखनेमें परधर्म अच्छा दिखायी दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिए। स्वधर्मपर चलते हुए मृत्यु होनेमें मोक्ष है।

भगवान् के राग-द्वेषरहित होकर किये जानेवाले कर्मको यज्ञरूप बतलानेपर अर्जुनने पूछा : "मनुष्य किसकी प्रेरणासे पापकर्म करता है? अक्सर तो ऐसा लगता है कि पापकर्मकी ओर कोई उसे जबर्दस्ती ढकेल ले जाता है।"

भगवान् बोले : "मनुष्यको पापकर्मकी ओर ढकेल ले जानेवाला काम है और क्रोध है। दोनों सगे भाईकी भाँति हैं, कामकी पूर्तिके पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम-क्रोधवाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्यके महान् शत्रु ये ही हैं। इनसे नित्य लड़ना है। जैसे मैल चढ़नेसे दर्पण धुँधला हो जाता है, या अग्नि धुएँके कारण ठीक नहीं जल पाती और गर्भ झिल्लीमें पड़े रहनेतक घुटता रहता है, उसी प्रकार काम-क्रोध ज्ञानीके ज्ञानको प्रज्वलित नहीं होने देते, फीका कर देते हैं, या दबा देते हैं। काम अग्निके समान विकराल है और इंद्रिय, मन, बुद्धि, सबपर अपना काबू करके मनुष्यको पछाड़ देता है। इसलिए तू इंद्रियोंसे पहले निपट, फिर मनको जीत, तो बुद्धि तेरे अधीन रहेगी, क्योंकि इंद्रियाँ, मन और बुद्धि यद्यपि क्रमश: एक-दूसरेसे बढ़-चढ़कर हैं, तथापि आत्मा उन सबसे बहुत बढ़ा-चढ़ा है। मनुष्यको आत्माकी अपनी शक्तिका पता नहीं है, इसीलिए वह मानता है कि इंद्रियाँ वशमें नहीं रहतीं, मन वशमें नहीं रहता या बुद्धि काम नहीं करती। आत्माकी शक्तिका विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है। इंद्रियोंको, मन और बुद्धिको ठिकाने रखनेवालेका काम, क्रोध या उनकी असंख्य सेना कुछ नहीं कर सकती।"

इस अध्यायको मैंने गीता समझनेकी कुंजी कहा है। एक वाक्यमें उसका सार यह जान पड़ता है कि जीवन सेवाके लिए है, भोगके लिए नहीं है। अत: हमें जीवनको यज्ञमय बना डालना उचित है, पर इतना जान लेनेभरसे वैसा हो जाना संभव नहीं हो जाता। जानकर आचरण करनेपर हम उत्तरोत्तर शुद्ध होते जायँगे। पर सच्ची सेवा क्या है, यह जाननेको इंद्रिय-दमन आवश्यक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर हम सत्यरूपी परमात्माके निकट होते जाते हैं। युग-युगमें हमें सत्यकी अधिक झाँकी होती है। स्वार्थ-दृष्टिसे होनेवाला सेवा-कार्य यज्ञ नहीं रह जाता। अत: अनासक्तिकी बड़ी आवश्यकता है। इतना जाननेपर हमें इधर-उधरके वाद-विवादमें नहीं उलझना पड़ता। भगवान् ने अर्जुनको क्या सचमुच ही स्वजनोंको मारनेकी शिक्षा दी? क्या उसमें धर्म था? ऐसे प्रश्न आते रहते हैं। अनासक्ति आनेपर योंही हमारे हाथमें किसीको मारनेको छुरी हो तो वह भी छूट जाती है, पर अनासक्तिका ढोंग करनेसे वह नहीं आती। हमारे

प्रयत्नपर वह आज आ सकती है अथवा, संभव है, हजारों वर्षतक प्रयत्न करते रहनेपर भी न आये। इसकी भी फिकर छोड़ देनी चाहिए। प्रयत्नमें ही सफलता है। यह हमें सूक्ष्मतासे जाँचते रहना चाहिए कि प्रयत्न वास्तवमें हो रहा है या नहीं। इसमें आत्माको धोखा नहीं देना चाहिए और इतना ध्यान रखना तो सभीके लिए संभव है।

चौथा अध्याय

सोम-प्रभात

१-१२-१९३०

भगवान् ने अर्जुनसे कहा कि मैंने जो निष्काम कर्मयोग तुझे बतलाया है, वह बहुत प्राचीनकालसे चला आता है, यह नया नहीं है। तू प्रिय भक्त है इसलिए, और इस समय धर्म-संकटमें है इसलिए, उसमेंसे मुक्त करनेके लिए, मैंने तेरे सामने इसे रखा है। जब-जब धर्मकी निंदा होती है और अधर्म फैलता है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ और भक्तोंकी रक्षा करता हूँ, पापीका संहार करता हूँ। मेरी इस मायाको जो जाननेवाला है, वह विश्वास रखता है कि अधर्मका लोप अवश्य होगा, साधु पुरुषका रक्षक ईश्वर है। ऐसे मनुष्य धर्मका त्याग नहीं करते और अंतमें मुझे पाते हैं, क्योंकि वे मेरा ध्यान धरनेवाले, मेरा आश्रय लेनेवाले होनेके कारण काम-क्रोधादिसे मुक्त रहते हैं और तप तथा ज्ञानसे शुद्ध हुए रहते हैं। मनुष्य जैसा करता है, वैसा फल पाता है। मेरे नियमोंसे बाहर कोई रह नहीं सकता । गुण-कर्म-भेदसे मैंने चार वर्ण पैदा किये हैं, फिर भी मुझे उनका कर्ता मत समझ, क्योंकि मुझे इस कर्ममेंसे किसी फलकी आकांक्षा नहीं है, न इसका पाप-पुण्य मुझे होता है। यह ईश्वरी माया समझने योग्य है। जगत्में जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, सब ईश्वरी नियमोंके अधीन होती हैं, फिर भी ईश्वर उनसे अलिप्त रहता है, इसलिए वह उनका कर्ता है और अकर्ता भी। यों अलिप्त रहकर, अछूते रहकर, फलेच्छासे रहित होकर जैसे ईश्वर चलता है, वैसे मनुष्य भी निष्काम रहकर चले तो अवश्य मोक्ष पा जाय। ऐसा मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और ऐसे मनुष्यको न करने योग्य कर्मका भी तुरंत पता चल जाता है। कामनासे सम्बद्ध कर्म, जो कामनाके बिना हो ही नहीं सकते, वे सब न करने योग्य कर्म कहलाते हैं - उदाहरणके लिए, चोरी, व्यभिचार इत्यादि। ऐसे कर्म कोई अलिप्त रहकर नहीं कर सकता। इसलिए जो कामना और संकल्प छोड़कर कर्तव्य-कर्म करता है, उसके बारेमें कहा जाता है कि उसने अपने ज्ञानरूपी अग्निद्वारा अपने कर्मोंको जला डाला है। यों कर्मफलका संग छोड़नेवाला मनुष्य सदा संतुष्ट रहता है, सदा स्वतंत्र होता है। उसका मन ठिकाने होता है, वह किसी संग्रहमें नहीं पड़ता और जैसे आरोग्यवान् पुरुषकी शारीरिक क्रियाएँ अपने-आप चलती रहती हैं उसी प्रकार ऐसे मनुष्यकी प्रवृत्तियाँ अपने-आप चला करती हैं। उनके अपने चलानेका उसे अभिमान नहीं होता, भानतक नहीं होता। वह स्वयं निमित्तमात्र रहता है - सफलता मिली तो भी

'वाह-वाह', न मिली तो भी। सफलतासे वह फूल नहीं उठता, विफलतासे घबराता नहीं। उसके सब कर्म यज्ञरूप सेवाके लिए, होते हैं। वह सारी क्रियाओंमें ईश्वरको ही देखता है और अंतमे उसीको पाता है।

यज्ञ तो अनेक प्रकारके कहे गये हैं। उन सबके मूलमें शुद्धि और सेवा होती है। इंद्रिय-दमन एक प्रकारका यज्ञ है, किसीको दान देना दूसरी प्रकारका। प्राणायामादि भी शुद्धिके लिए आरंभ किये जानेवाले यज्ञ हैं। इनका ज्ञान किसी ज्ञाता गुरुसे प्राप्त किया जा सकता है। वह मिलाप, विनय, लगन और सेवासे ही संभव है। यदि सब लोग बिना समझे-बूझे यज्ञके नामपर अनेक प्रवृत्तियाँ करने लग जायाँ तो अज्ञानके निमित्त होनेके कारण, भलेके बदले बुरा नतीजा भी हो सकता है। इसलिए हरएक कामके ज्ञानपूर्वक होनेकी पूरी आवश्यकता है।

यहाँ ज्ञानसे मतलब अक्षर-ज्ञान नहीं है। इस ज्ञानमें शंकाकी कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। उसका श्रद्धासे आरंभ होता है और अंतमें उसका अनुभव आता है। ऐसे ज्ञानसे मनुष्य सब जीवोंको अपनेमें देखता है और अपनेको ईश्वरमें देखता है। यहाँतक कि यह सब प्रत्यक्षकी भाँति उसे ईश्वरमय लगता है। ऐसा ज्ञान पापी-से-पापीको भी तार देता है। यह ज्ञान कर्मबंधनमेंसे मनुष्यको मुक्त करता है, अर्थात् कर्मका फल उसे स्पर्श नहीं करता। इसके समान पवित्र इस जगत् में दूसरा कुछ नहीं है। इसलिए तू श्रद्धा रखकर, ईश्वरपरायण होकर, इंद्रियोंको वशमें रखकर ऐसा ज्ञान पानेका प्रयत्न कर, उससे तुझे परम शांति मिलेगी।

तीसरा, चौथा और पाँचवाँ अध्याय, तीनों एक साथ मनन करने योग्य हैं। उनमेंसे अनासक्तियोग क्या है, इसका अनुमान हो जाता है। इस अनासक्ति - निष्कामतासे मिलनेका उपाय भी उनमें थोड़े-बहुत अंशमें बतलाया गया है। इन तीनों अध्यायोंको यथार्थ रूपसे समझ लेनेपर आगेके अध्यायोंमें कम कठिनाई पड़ेगी। आगेके अध्यायमें हमें अनासक्ति-प्राप्तिके साधनकी अनेक रीतियाँ बतलाते हैं। हमें इस दृष्टिसे गीताका अध्ययन करना चाहिए, इससे अपनी नित्य पैदा होनेवाली समस्याओंको हम गीताद्वारा बिना परिश्रमके हल कर सकेंगे। यह नित्यके अभ्याससे संभव होनेवाली वस्तु है। सबको आजमाकर देखनी चाहिए। क्रोध आया कि तुरंत उससे सम्बद्ध श्लोकका स्मरण करके उसे शांत करना चाहिए। किसीका द्वेष हो, अधीरता आये, आहारैषणा आये, किसी कामको करने या न करनेका संकट

आये तो ऐसे सब प्रश्नोंका निपटारा, श्रद्धा हो और नित्य मनन हो तो, गीता-मातासे कराया जा सकता है। इसके लिए नित्यका यह पारायण है और तदर्थ यह प्रयत्न है।

यज्ञ-१

मंगल-प्रभात

२१-१०-१९३०

हम यज्ञ शब्दका व्यवहार बार-बार करते हैं। हमने नित्यका महायज्ञ भी रचा है। इसलिए यज्ञ शब्दका विचार कर लेना जरूरी है। इस लोकमें या परलोकमें कुछ भी बदला लिये या चाहे बिना, परार्थके लिए किये हुए किसी भी कर्मको यज्ञ कहेंगे। कर्म कायिक हो या मानसिक, चाहे वाचिक, कर्मका विशाल-से-विशाल अर्थ लेना चाहिए। 'परार्थके लिए' का मतलब केवल मनुष्य-वर्ग नहीं, बल्कि जीवमात्र लेना चाहिए और अहिंसाकी दृष्टिसे भी, मनुष्य-जातिकी सेवाके लिए भी, दूसरे जीवोंका होमना या उनका नाश करना यज्ञकी गिनतीमें नहीं आ सकता। वेदादिमें अश्व, गाय इत्यादिको होमनेकी जो बात आती है, उसे हमने गलत माना है। वहाँ पशुहिंसाका अर्थ लें तो सत्य और अहिंसाकी तराजूपर ऐसे होम नहीं चढ़ सकते, इतनेसे हमने संतोष मान लिया है। जो वचन धर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं, उनका ऐतिहासिक अर्थ करनेमें हम नहीं फँसते और वैसे अर्थोंके अन्वेषणकी अपनी अयोग्यता हम स्वीकार करते हैं। उस योग्यताकी प्राप्तिका प्रयत्न भी हम नहीं करते, क्योंकि ऐतिहासिक अर्थसे जीवहिंसा संगत भी ठहरे तो भी अहिंसाको सर्वोपरि धर्म माननेके कारण हमारे लिए उस अर्थको रुचनेवाला आचार त्याज्य है।

उक्त व्याख्याके अनुसार विचारनेपर हम देख सकते हैं कि जिस कर्ममें अधिक-से-अधिक जीवोंका, अधिक-से-अधिक क्षेत्रमें, कल्याण हो और जो कर्म अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिक-से-अधिक सरलतासे कर सकें, और जिसमें अधिक-से-अधिक सेवा होती हो, वह महायज्ञ है या अच्छा यज्ञ है। अत: किसीकी भी सेवाके निमित्त अन्य किसीका कल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नहीं है और यज्ञके अलावा किया हुआ कार्य बन्धनरूप है, यह हमें भगवद्गीता और अनुभव भी सिखाता है।

ऐसे यज्ञके बिना यह जग क्षणभर भी नहीं टिक सकता, इसीलिए गीताकारने ज्ञानकी कुछ झलक दूसरे अध्यायमें दिखाकर तीसरे अध्यायमें उसकी प्राप्तिके साधनमें प्रवेश कराया है और साफ शब्दोंमें

कहा है कि हम यज्ञको जन्मसे ही साथ लाये हैं। यहाँतक कि हमें यह शरीर केवल परमार्थके लिए मिला है और इसलिए यज्ञ किये बिना जो खाता है, वह चोरीका खाता है, ऐसी सख्त बात गीताकारने कह डाली। जो शुद्ध जीवन बिताना चाहता है, उसके सब काम यज्ञरूप होते हैं। हमारे यज्ञसहित जन्मनेका मतलब है कि हम हरदमके ऋणी या देनदार हैं। इसलिए हम जगके सदाके गुलाम हैं और जैसे स्वामी गुलामको सेवाके बदलेमें खाना-कपड़ा आदि देता है, वैसे हमें जगत्का स्वामी हमसे गुलामी लेनेके लिए जो अन्न-वस्त्रादि देता है, वह कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि जो मिलता है, उतनेका भी हमें हक है, न मिलनेपर मालिकको दोष न दें। यह देह उसकी है, जी चाहे इसे रखे, या न रखे। यह स्थिति दु:खद नहीं है, न दयनीय है। यदि हम अपना स्थान समझ लें तो यह स्वाभाविक है और इसलिए सुखद और चाहने योग्य है। ऐसे परम सुखके अनुभवके लिए अचल श्रद्धा तो अवश्य चाहिए। अपने लिए कोई चिंता न करना, सब परमेश्वरको सौंप देना, ऐसा आदेश मैंने तो सब धर्मोंमें पाया है।

पर इस वचनसे किसीको डरना नहीं चाहिए। मनको स्वच्छ रखकर सेवाका आरंभ करनेवालेको उसकी आवश्यकता दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होती जाती है और वैसे ही उसकी श्रद्धा बढ़ती जाती है। जो स्वार्थ छोड़नेको तैयार ही नहीं है, अपनी जन्मकी स्थितिको पहचाननेको ही तैयार नहीं, उसके लिए तो सेवाके सब मार्ग मुश्किल हैं। उसकी सेवामें तो स्वार्थकी गंध आती ही रहेगी, पर ऐसे स्वार्थी जगत्में कम ही मिलेंगे। कुछ-न-कुछ नि:स्वार्थ सेवा हम सब जाने-अनजाने करते ही रहते हैं। यही चीज विचारपूर्वक करने लगनेसे हमारी पारमार्थिक सेवाकी वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहेगी। उसमें हमारा सच्चा सुख है और जगत्का कल्याण है।

यज्ञ-२

मंगल-प्रभात

२८-१०-१९३०

यज्ञके विषयमें पिछले सप्ताह लिखकर भी इच्छा पूरी नहीं हुई। जिस चीजको जन्मके साथ लेकर हमने इस संसारमें प्रवेश किया है, उसके बारेमें कुछ अधिक विचार करना व्यर्थ न होगा। यज्ञ नित्य-कर्तव्य है, चौबीसों घंटे आचरणमें लानेकी वस्तु है, इस विचारसे और यज्ञका अर्थ सेवा समझकर 'परोपकाराय सतां विभूतय:' वचन कहा गया है। निष्काम सेवा परोपकार नहीं है, बल्कि अपने निजके

ऊपर उपकार है। जैसे कर्ज चुकाना परोपकार नहीं, बल्कि अपनी सेवा है, अपने ऊपर उपकार है, अपने ऊपरसे भार उतारना है, अपने धर्मको बचाना है। फिर कोई संतकी ही पूँजी 'परोपकारार्थ—अधिक सुन्दर भाषामें कहिये तो—'सेवार्थ' हो, सो नहीं है, बल्कि मनुष्यमात्रकी पूँजी सेवार्थ है और यह होनेपर सारे जीवनमें भोगका खातमा हो जाता है, जीवन त्यागमय हो जाता है। या यों कहें कि मनुष्यका त्याग ही उसका भोग है। पशु और मनुष्यके जीवनमें यह भेद है। जीवनका यह अर्थ जीवनको शुष्क बना देता है, इससे कलाका नाश हो जाता है, अनेक लोग यह आरोप करके उक्त विचारको सदोष समझते हैं, पर मेरे खयालमें ऐसा कहना त्यागका अनर्थ करना है। त्यागके मानी संसारसे भागकर जंगलमें जा बसना नहीं है, बल्कि जीवनकी प्रवृत्तिमात्रमें त्यागका होना है। गृहस्थ-जीवन त्यागी और भोगी दोनों हो सकता है। मोचीका जूते सीना, किसानका खेती करना, व्यापारीका व्यापार करना और नाईका हजामत बनाना त्याग-भावनासे हो सकता है या उसमें भोगकी लालसा हो सकती है। जो यज्ञार्थ व्यापार करता है, वह करोड़ोंके व्यापारमें भी लोकसेवाका ही खयाल रखेगा, किसीको धोखा नहीं देगा, अकरणीय साहस नहीं करेगा, करोड़ोंकी सम्पत्ति रखते हुए भी सादगीसे रहेगा, करोड़ों कमाते हुए भी किसीकी हानि नहीं करेगा। किसीकी हानि होती होगी तो करोड़ोंसे हाथ धो लेगा। कोई इस खयालसे न हँसे कि ऐसा व्यापारी मेरी कल्पनामें बसता है। संसारके सौभाग्यसे ऐसे व्यापारी पश्चिम और पूर्व दोनोंमें हैं। हों चाहे अँगुलियोंपर ही गिननेभरको, पर एक भी जीवित उदाहरण रखनेपर उसे फिर कल्पनाकी वस्तु नहीं कह सकते। ऐसे दरजीको हमने बढ़वाणमें ही देखा है। ऐसे एक नाईको मैं जानता हूँ और ऐसे बुनकरको हम लोगोंमेंसे* कौन नहीं जानता? देखने-ढूँढ़नेपर हम सब धंधोंमें केवल यज्ञार्थ अपना धंधा करने और तदर्थ जीवन बितानेवाले आदमी पा सकते हैं। यह अवश्य है कि ऐसे याज्ञिक अपने धंधेसे अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। पर वे धंधा आजीविकाके निमित्त नहीं करते, आजीविका उनके लिए उस धंधेका गौण फल है। मोतीलाल पहले भी दर्जीका धंधा करता था और ज्ञान होनेके बाद भी दर्जी बना रहा। भावना बदल जानेसे उसका धंधा यज्ञरूप बन गया, उसमें पवित्रता आ गयी और पेशेमें दूसरेके सुखका विचार दाखिल हो गया। उसी समय उसके जीवनमें कलाका प्रवेश हो गया। यज्ञमय जीवन कलाकी पराकाष्ठा है, सच्चा रस उसीमें है, क्योंकि उसमेंसे रसके नित्य नये झरने प्रकट होते हैं। मनुष्य उन्हें पीकर अघाता नहीं है, न वे झरने कभी सूखते हैं। यज्ञ यदि भाररूप जान पड़े तो यज्ञ नहीं है, जो

अखरे वह त्याग नहीं है। भोगका अंत नाश है, त्यागका अन्त अमरता। रस स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, रस तो हमारी वृत्तिमें मौजूद है। एकको नाटकके पर्दोंमें मजा आता है, अन्यको आकाशमें नित्य नये-नये प्रकट होनेवाले दृश्योंमें। रस परिशीलन-का विषय है। जो रसरूपसे बचपनमें सिखाया जाता है, जिसे रसके नामसे जनतामें प्रवेश कराया जाता है, वह रस माना जाता है। हम ऐसे उदाहरण पा सकते हैं कि जिनमें एक प्रजाको रसमय लगनेवाली चीज दूसरी प्रजाको रसहीन लगती है।

यज्ञ करनेवाले अनेक सेवक मानते हैं कि हम निष्काम भावसे सेवा करते हैं, अत: लोगोंसे आवश्यकताभरको और अनावश्यक भी, लेनेका हमें परवाना मिल गया है। जहाँ किसी सेवकके मनमें यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गयी, सरदारी आयी। सेवामें अपनी सुविधाके विचारकी गुंजाइश ही नहीं होती है। सेवककी सुविधा स्वामी - ईश्वर - देखे, देनी होगी तो वह देगा। यह खयाल रखते हुए सेवकको चाहिए कि जो कुछ आ जाय, सबको न अपना बैठे। आवश्यकताभरको ही ले, बाकीका त्याग करे। अपनी सुविधाकी रक्षा न होनेपर भी शांत रहे, रोष न करे, मनमें भी खिन्नता न लाये। याज्ञिकका बदला, सेवककी मजदूरी, यज्ञ - सेवा ही है। उसीमें उसका संतोष है।

सेवा-कार्यमें बंगार भी नहीं काटी जाती। उसे अंतके लिए नहीं छोड़ा जाता। अपना काम तो सँवारे, लेकिन पराया, बिना पैसेके करना है, इस खयालसे जैसा-तैसा या जब चाहे तब करनेमें भी हर्ज न समझनेवाला, यज्ञका ककहरा भी नहीं जानता। सेवामें तो सोलहों सिंगार भरने पड़ते हैं, अपनी सारी कला उसमें खर्च कर देनी पड़ती है। पहले यह, फिर अपनी सेवा। मतलब यह कि शुद्ध यज्ञ करनेवालेके लिए अपना कुछ नहीं है। उसने सब 'कृष्णार्पण' कर दिया है।

*यानी आश्रमवासियोंमेंसे।

यज्ञ-३

(व्यक्तिगत पत्रोंमेंसे)

१३-११-१९३०

चरखे और फ्रेंचके विषयमें तुमने जो लिखा है, उसमें भी सिद्धान्त-दृष्टिसे त्रुटि पाता हूँ। चरखेको सर्वार्पण करनेपर उस समयको दूसरे काममें नहीं लगाया जा सकता। कोई बात करने आ जाय तो

विवेकके खयालसे कर सकते हैं, पर बातोंके बजाय कुछ सीखा ही जाय तो उसमें क्या बुराई है, यह न्याय यहाँ नहीं लग सकता। बातोंमेंसे तो जब चाहे छुट्टी पायी जा सकती है। बात करनेवाला भी बहुत देरतक बैठकर बातें नहीं करेगा। पर शिक्षक बन जानेपर तो वह पूरा समय देनेको मजबूर हो जाता है। यह सब तबके लिए है, जब कि चरखेको यज्ञरूपमें चलाते हों। अपने विषयमें मैं इस सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ। चरखा चलाते समय जब अन्य विचारोंमें पड़ता हूँ, तब गतिपर, नंबरपर, समानतापर उसका असर पड़ता है। कल्पना करो कि रोम्यां रोलां या बिथोवन पियानोपर बैठें हैं। उसपर वे ऐसे तन्मय हो जाते हैं कि बात नहीं कर सकते, न मनमें अन्य विचार कर सकते हैं। कला और कलाकार पृथक् नहीं होते। यदि यह पियानोके लिए सत्य हो तो फिर चरखायज्ञके लिए कितना अधिक सत्य होना चाहिए? यह विचार जाने दो कि यह आचरण आज ही संभव नहीं है। अपने विचारक्षेत्रको बावन तोला पाव रत्ती शुद्ध रख सकें तो तदनुसार आचरण किसी दिन हो ही जायगा। यह न समझो कि इसमें गुजरे हुओंकी आलोचना है। मैं खुद बहुत अधूरा हूँ, मुझे आलोचना करनेका हक भी कहाँ है? जितना जानता हूँ, उसपर मैं खुद कहाँ पूरी तरह चलता हूँ? चलता होता तो कबका चरखा सात लाख गाँवोंमें गूँज जाता। आज भी जो जानता हूँ, उसके अनुसार सौ फीसदी चल सकूँ तो मेरे यहाँ बैठे भी चरखा हवाकी तरह फैले। पर यदि मालवीयजी भागवत पुराणकी चर्चासे थकें तो मैं चरखा-संगीतकी बातोंसे थकूँ। चरखा-पुराण तो कैसे कहूँ? पुराण तो भविष्यकी पीढ़ी रचेगी, बशर्ते कि हम कुछ रचने लायक कर जायँगे। आज तो हम इसका टूटा-फूटा संगीत रच रहे हैं। अंतमें उसमें कैसा सुर निकलता है, यह हमारी तपश्चर्या और हमारे समर्पणपर निर्भर रहेगा।

"मुझे आदर्श तो यह लगता है कि यज्ञके समय मौन हो। उस समय जो विचार हो, वह चरखे, या कहो खादीसंबंधी अथवा राम-नामका हो। राम-नामको विस्तृत अर्थमें लेना चाहिए। वास्तवमें तो राम-नाम जाने-अनजाने हमेशा ही होना चाहिए, जैसे संगीतमें तंबूरा। पर हाथ जो काम करते हों, उसमें हम एक-ध्यान न हों तो राम-नामका इच्छापूर्वक रटन होना चाहिए। चरखा चलाते हुए हम बातें करें, कुछ सुनें या और कुछ करें तो यह क्रिया यज्ञ तो नहीं होगी। यदि यह यज्ञ कर्तव्य है तो उतने समयके लिए उसमें लीन हो जाना चाहिए। जिसका सारा जीवन यज्ञरूप है और जो अनासक्त है, वह एक समयमें एक ही काम करेगा। इतना जानते हुए भी (अल्पा-धिक प्रमाणमें) मैं ही पहला पापी ठहरता हूँ, क्योंकि

कह सकते हैं कि मैंने किसी दिन चुपचाप एकांतमें बैठकर अर्थात् मौन धरकर नहीं काता। मौनवारके दिन कातते-कातते डाक सुनता या किसीकी कोई बात सुननी होती तो वह सुनता। यह कुटेव यहाँ भी नहीं गयी। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि कातनेमें बहुत नियमित होते हुए भी मैं सुस्त रह गया और घंटमें मुश्किलसे २०० तारतक अब पहुँचा हूँ! और भी अनेक दोष अपनेमें पाता हूँ, जैसे तार टूटना, माल बनाना न जानना, चमरखका अल्पज्ञान, रुईकी किस्म न पहचानना, समानता वगैरह पूरी तरहसे न निकाल सकना, तारकी परख न कर सकना इत्यादि। क्या यह सब किसी याज्ञिकको शोभा देता है? फिर खादीकी गति धीमी रह गयी तो इसमें कया आश्चर्य है? यदि दरिद्रनारयण है और उसके होनेमें कोई शक नहीं है, और यदि उसकी प्रसादी खादी है, और यह कहनेवाला, जाननेवाला जो कुछ कहो वह मैं हूँ, फिर भी मेरा अमल कितना ढीला-ढाला है। इसलिए इस विषयमें किसी औरको दोषी ठहरानेका जी नहीं चाहता है। मैं तो सिर्फ तुम्हें अपने दोषका, दु:खका और उसमेंसे उत्पन्न होनेवाले खयालका और ज्ञानका दर्शन कराना चाहता हूँ। यद्यपि काकाके साथ यदा-कदा ऐसी बातें हुई हैं, तथापि इतनी स्पष्टतासे तो यही पहले-पहल तुमसे कर रहा हूँ और यह स्पष्टता भी आयी तुम्हारे उस फ्रेंचको चरखेके साथ जोड़नेके कारण। तुमने जो किया, उसमें मैं तुम्हारा तनिक भी दोष नहीं पाता। मैं देख रहा हूँ कि चरखेका कैसा कच्चा 'मंत्रा' हूँ मैं। मंत्रको तो जाना, पर उसकी पूरी विधि आचारमें नहीं उतारी, इसलिए मंत्र अपनी पूरी शक्ति नहीं प्रकट कर सका। चरखेकी भाँति ही इस बातको सारे जीवनपर घटाकर देखो तो कल्पनामें तो तुम्हें जीवनकी अद्भुत शांतिका अनुभव होगा और सफलताका भी। 'योग: कर्मसु कौशलम्' का तात्पर्य यह है। इस बातको ध्यानमें रखकर जितना हो सके, उतना ही करनेको हाथमें लें और संतोष मानें। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इससे हम अपनेको और समाजको अधिक-से-अधिक आगे बढ़ानेमें अपना कर्तव्य करते हैं। जबतक इसका पूरा-पूरा अमल न हो ले, तबतक तो यह कोरा पांडित्य ही कहा जायगा। दिन-दिन इस दिशामें बढ़ तो रहा हूँ। बाहर निकलनेपर कया होगा, वह भगवान् जाने। तुम इसमेंसे बन सके तो इतना तो अमलमें ला सकते हो कि यज्ञके निमित्त जितने तार तय कर लो, उतने तो शास्त्रीय रीतिसे कातो। बाकी तो चाहो जिस दिशामें हिन्दुस्तानकी संपत्ति बढ़ानेके इरादेसे कातते रहो। अभी लिखते जानेकी इच्छा होती है। पर अब बस करता हूँ।

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन कहता है : "आप ज्ञानको विशेष बतलाते हैं। इससे मैं समझता हूँ कि कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है, संन्यास ही अच्छा है। पर फिर आप कर्मकी भी स्तुति करते हैं, तब यह लगता है कि योग ही अच्छा है। इन दोनोंमें अधिक अच्छा कया है, यह मुझको निश्चयपूर्वक कहिये। तभी मुझे कुछ शांति मिल सकती है।"

यह सुनकर भगवान् बोले : संन्यास अर्थात् ज्ञान और कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्म ये दोनों अच्छे हैं, पर यदि तुझे चुनाव ही करना है तो मैं कहता हूँ कि योग अर्थात् अनासक्तिपूर्वक कर्म अधिक अच्छा है। जो मनुष्य किसी वस्तु या मनुष्यका न द्वेष करता है, न कोई इच्छा रखता है और सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी इत्यादि द्वंद्वोंसे परे रहता है, वह संन्यासी ही है। फिर वह कर्म करता हो या न करता हो। ऐसा मनुष्य सहजमें बंधनमुक्त हो जाता है। अज्ञानी ज्ञान और योगमें भेद करता है, ज्ञानी नहीं। दोनोंका परिणाम एक ही होता है, अर्थात् दोनोंसे वही स्थान मिलता है। इसलिए सच्चा जाननेवाला वही है, जो दोनोंको एक ही समझता है, क्योंकि शुद्ध ज्ञानवालेकी संकल्पभरसे कार्यसिद्धि होती है, अर्थात् बाहरी कर्म करनेकी उसे जरूरत नहीं रहती। जब जनकपुरी जल रही थी, तब दूसरोंका धर्म था कि जाकर आग बुझायें। जनकके संकल्पसे ही उनका आग बुझानेका कर्तव्य पूरा हो रहा था, क्योंकि उनके सेवक उनके अधीन थे। यदि वह घड़ाभर पानी लेकर दौड़ते तो कुल चौपट कर देते। दूसरे लोग उनकी ओर ताकते रहते और अपना कर्तव्य बिसर जाते और विशेष भलमनसी दिखाते तो हक्के-बक्के होकर जनककी रक्षा करने दौड़ते। पर सब झटपट जनक नहीं बन सकते। जनककी स्थिति बड़ी दुर्लभ है। करोड़ोंमेंसे किसीको अनेक जन्मोंकी सेवासे वह प्राप्त हो सकती है। यह भी नहीं है कि इसकी प्राप्तिपर कोई विशेष शांति हो। उत्तरोत्तर निष्काम कर्म करते मनुष्यका संकल्पबल बढ़ता जाता है और बाहरी कर्म कम होते जाते हैं। कहा जा सकता है कि वास्तवमें देखनेपर उसे इसका पता भी नहीं चलता। इसके लिए उसका प्रयत्न भी नहीं होता। वह तो सेवा-कार्यमें ही डूबा रहता है। उससे उसकी सेवा-शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसे सेवासे कोई थकान आती नहीं जान पड़ती। इससे अंतमें उसके संकल्पमें ही सेवा आ जाती है, वैसे ही जैसे बहुत जोरसे गति करती हुई वस्तु स्थिर-सी लगती है। ऐसा मनुष्य कुछ करता नहीं है, यह कहना प्रत्यक्षरूपसे अयुक्त है। पर ऐसी स्थिति साधारणत: कल्पनाकी ही वस्तु

है, अनुभवमें नहीं आती। इसलिए मैंने कर्मयोगको विशेष कहा है। करोड़ों निष्काम कर्ममेंसे ही संन्यासका फल प्राप्त करते हैं। वे संन्यासी होने जायँ तो इधर या उधर, कहींके न रहेंगे। संन्यासी होने गये तो मिथ्याचारी हो जानेकी पूरी संभावना है, और कर्मसे तो गये ही, मतलब सब खोया, पर जो मनुष्य अनासक्ति-सहित कर्म करता हुआ शुद्धता प्राप्त करता है, जिसने अपने मनको जीता है, जिसने अपनी इंद्रियोंको वशमें रखा है, जिसने सब जीवोंके साथ अपनी एकता साधी है और सबको अपने समान ही मानता है, वह कर्म करते हुए भी उससे अलग रहता है, अर्थात् बंधनमें नहीं पड़ता। ऐसे मनुष्यके बोलने-चालने आदिकी क्रियाएँ करते हुए भी ऐसा लगता है कि इन क्रियाओंको इंद्रियाँ अपने धर्मानुसार कर रही हैं। स्वयं वह कुछ नहीं करता। शरीरसे आरेग्यवान् मनुष्यकी क्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं। उसके जठर आदि अपने-आप काम करते हैं, उनकी ओर उसे खयाल नहीं दौड़ाना पड़ता, वैसे ही जिसकी आत्मा आरेग्यवान् है, उसके लिए कहा जा सकता है कि शरीरमें रहते हुए भी स्वयं अलिप्त है, कुछ नहीं करता। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि सब कर्म ब्रह्मार्पण करे, ब्रह्मके ही निमित्त करे। तब वह करते हुए भी पाप-पुण्यका पुंज नहीं रचता। पानीमें कमलकी भाँति कोरा-का-कोरा ही रहेगा। इसलिए जिसने अनासक्तिका अभ्यास कर लिया है, वह योगी कायासे, मनसे, बुद्धिसे कार्य करते हुए भी, संगरहित होकर, अहंकार तजकर बरतता है, जिससे शुद्ध हो जाता है और शांति पाता है। दूसरा रोगी, जो परिणाममें फँसा हुआ है, कैदीकी भाँती अपनी कामनाओंमें बँधा रहता है। इस नौ दरवाजेवाले देहरूपी नगरमें सब कर्मोंका मनसे त्याग करके स्वयं कुछ न करता-कराता हुआ योगी सुखपूर्वक रहता है। संस्कारवान् संशुद्ध आत्मा न पाप करता है, न पुण्य। जिसने कर्ममें आसक्ति नहीं रखी, अहंभाव नष्ट कर दिया, फलका त्याग किया, वह जड़की भाँति बरतता है, निमित्तमात्र बना रहता है। भला उसे पाप-पुण्य कैसे छू सकते हैं? इसके विपरीत जो अज्ञानमें फँसा है, वह हिसाब लगाता है, इतना पुण्य किया, इतना पाप किया और इससे वह नित्य नीचेको गिरता जाता है और अंतमें उसके पल्ले पाप ही रह जाता है। ज्ञानसे अपने अज्ञानका नित्य नाश करते जानेवालेके कर्ममें नित्य निर्मलता बढ़ती जाती है, संसारकी दृष्टीमें उसके कर्मोंमें पूर्णता और पुण्यता होती है। उसके सब कर्म स्वाभाविक जान पड़ते हैं। वह समदर्शी होता है। उसकी नजरोंमें विद्या और विनयवाला ब्रह्मज्ञाता ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, विवेकहीन - पशुसे भी गया-बीता - मनुष्य सब समान हैं। मतलब, कि सबकी वह समान भावसे सेवा करेगा - यह नहीं कि

किसीको बड़ा मानकर उसका मान करेगा और दूसरेको तुच्छ समझकर उसका तिरस्कार करेगा। अनासक्त मनुष्य अपनेको सबका देनदार मानेगा, सबको उनका लहना चुकायेगा और पूरा न्याय करेगा। उसने जीते-जी जगत् को जीत लिया है, वह ब्रह्ममय है। अपना प्रिय करनेवालेपर वह रीझता नहीं, गाली देनेवालेपर खीझता नहीं। आसक्तिवान् सुखको बाहर ढूँढ़ता है, अनासक्त निरंतर भीतरसे शांति पाता है, क्योंकि उसने बाहरसे जीवको समेट लिया है। इंद्रियजन्य सारे भोग दुःखके कारण हैं। मनुष्यको काम-क्रोधसे उत्पन्न उपद्रव सहन करने चाहिए। अनासक्त योगी सब प्राणियोंके हितमें ही लगा रहता है। वह शंकाओंसे पीड़ित नहीं होता। ऐसा योगी बाहरी जगत् से निराला रहता है, प्राणायामादिके प्रयोगोंसे अंतमुर्खताका यत्न करता रहता है और इच्छा, भय, क्रोध आदिसे पृथक् रहता है। वह मुझे ही सबका महेश्वर, मित्ररूप, यज्ञादिक भोक्ताकी भाँति जानता है और शांति प्राप्त करता है।

छठा अध्याय

मंगल-प्रभात

१६-१२-१९३०

श्री भगवान् कहते हैं—कर्म-फल त्यागकर कर्तव्य-कर्म करनेवाला मनुष्य संन्यासी कहलाता है और योगी भी कहलाता है। जो क्रियामात्रका त्याग कर बैठता है, वह आलसी है। असली बात तो है मनके घोड़े दौड़ाना छोड़नेकी। जो योग अर्थात् समत्वको साधना चाहता है, उसकी कर्म बिना गुजर ही नहीं। जिसे समत्व प्राप्त हो गया है, वह शांत दिखाई देता है। तात्पर्य, उसके विचारमात्रमें कर्मका बल आ गया रहता है। जब मनुष्य इंद्रियके विषयोंमें या कर्ममें आसक्त न हो और मनकी सारी तरंगोंको छोड़ दे, तब कहना चाहिए कि उसने योग साधा है, वह योगारूढ़ हुआ है।

आत्माका उद्धार आत्मासे ही होता है। तब कह सकते हैं कि आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु बनता है और मित्र बनता है। जिसने मनको जीता है, उसका आत्मा मित्र है, जिसने नहीं जीता है, उसका आत्मा शत्रु है। मनको जीतनेवालेकी पहचान है कि उसके लिए सरदी-गरमी, सुख-दु:ख, मान-अपमान सब एक समान होते हैं। योगी उसका नाम है, जिसे ज्ञान है, अनुभव है, जो अविचल है, जिसने इंद्रियोंपर विजय पायी है और जिसके लिए सोना, मिट्टी या पत्थर समान है। वह शत्रु-मित्र, साधु-असाधु इत्यादिके प्रति समभाव रखता है। ऐसी स्थितिको पहुँचनेके लिए मन स्थिर करना, वासनाएँ त्यागना और एकांतमें बैठकर परमात्माका ध्यान करना चाहिए। केवल आसन आदि ही बस नहीं हैं। समत्व-प्राप्तिके इच्छुकोंको ब्रह्मचर्यादि महाव्रतोंका भली प्रकार पालन करना चाहिए। यों आसनबद्ध हुए यम-नियमोंका पालन करनेवाले मनुष्यको अपना मन परमात्मामें स्थिर करनेसे परम शांति प्राप्त होती है।

यह समत्व ठूँस-ठूँसकर खानेवाला तो नहीं पा सकता, पर कोरे उपवाससे भी नहीं मिलता, न बहुत सोनेवालेको मिलता है, वैसे ही बहुत जागनेसे भी हाथ नहीं आता। समत्व-प्राप्तिके इच्छुकको तो सबमें - खानेमें, पीनेमें, सोने-जागनेमें भी मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिए। एक दिन खूब खाया और दूसरे दिन उपवास; एक दिन खूब सोये और दूसरे दिन जागरण; एक दिन खूब काम करना और दूसरे दिन अलसाना, यह योगकी निशानी नहीं है। योगी तो सदैव स्थिरचित्त होता है और कामनामात्रका वह

अनायास त्याग किये रहता है। ऐसे योगीकी स्थिति निर्वात स्थानमें दीपककी भाँति स्थिर रहती है। उसे जगके खेल अथवा अपने मनमें उठनेवाले विचारोंकी लहरें डाँवाडोल नहीं कर सकतीं। धीरे-धीरे, किंतु दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करनेसे यह योग सध सकता है। मन चंचल है, इससे इधर-उधर दौड़ता है, उसे धीरे-धीरे स्थिर करना चाहिए। उसके स्थिर होनेसे ही शांति मिलती है, या मनकी स्थिरताके लिए निरंतर आत्मचिंतन आवश्यक है। ऐसा मनुष्य सब जीवोंको अपनेमें और अपनेको सबमें देखता है, क्योंकि वह मुझे सबमें और सबको मुझमें देखता है। जो मुझमें लीन है, मुझे सर्वत्र देखता है, वह स्वयं नहीं रह गया है, इसलिए चाहे जो करता हुआ भी मुझीमें पिरोया हुआ रहता है। उसके हाथसे कभी कुछ अकरणीय नहीं हो सकता।

अर्जुनको यह योग कठिन लगा। वह बोला : “यह आत्म-स्थिरता कैसे प्राप्त हो? मन तो बंदरके समान है। मनका रोकना हवा रोकनेके समान है। ऐसा मन कब और कैसे वशमें आता है?”

भगवान् ने उत्तर दिया : “तेरा कहना सच है। पर राग-द्वेषको जीतने और प्रयत्न करनेसे कठिनको आसान किया जा सकता है। 'निस्संदेह’ मनको जीते बिना योगका साधन नहीं बन सकता।”

तब फिर अर्जुन पूछता है : “मान लीजिये कि मनुष्यमें श्रद्धा है, पर उसका प्रयत्न मंद होनेसे वह सफल नहीं होता। ऐसे मनुष्यकी क्या गति होती है? वह बिखरे बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता?”

भगवान् बोले : “ऐसे श्रद्धालुका नाश तो होता ही नहीं। कल्याण-मार्गकी अवगति नहीं होती। ऐसा मनुष्य मरनेपर कर्मानुसार पुण्यलोकमें बसनेके बाद पृथ्वीपर लौट आता है और पवित्र घरमें जन्म लेता है। ऐसा जन्म लोकोंमें दुर्लभ है। ऐसे घरमें उसके पूर्व-संस्कार उदय होते हैं। अब प्रयत्नमें तेजी आती है और अंतमें उसे सिद्धि मिलती है। यों प्रयत्न करते-करते कोई जल्दी और कोई अनेक जन्मोंके बाद अपनी श्रद्धा और प्रयत्नके बलके अनुसार समत्वको पाता है। तप, ज्ञान, कर्मकांड-संबंधी कर्म - इन सबसे समत्व विशेष है, क्योंकि तपादिका अंतिम परिणाम भी समता ही होना चाहिए। इसलिए तू समत्व लाभ कर और योगी हो। अपना सर्वस्व मुझे अर्पण कर और श्रद्धापूर्वक मेरी ही आराधना करनेवालोंको श्रेष्ठ समझ।“

इस अध्यायमें प्राणायाम-आसन आदिकी स्तुति है। पर स्मरण रखें कि भगवान्‌ने उसीके साथ ब्रह्मचर्यका अर्थात् ब्रह्म-प्राप्तिके यम-नियमादि पालनकी आवश्यकता बतलायी है। यह समझ लेना आवश्यक है कि अकेली आसनादि क्रियासे कभी समत्व नहीं प्राप्त हो सकता। यदि उस हेतुसे वे क्रियाएँ हों तो आसन-प्राणायामादि मनको स्थिर करनेमें, एकाग्र करनेमें, थोड़ी-सी मदद करते हैं, अन्यथा उन्हें अन्य शारीरिक व्यायामोंकी श्रेणीमें समझकर उतनी ही - शरीर-सुधारभर ही - कीमत माननी चाहिए। शारीरिक व्यायामरूपमें प्राणायामादिका बहुत उपयोग है। व्यायामोंमें यह व्यायाम सात्त्विक है। शारीरिक दृष्टिसे इसका साधन उचित है, पर उससे सिद्धियाँ पाने और चमत्कार देखनेको ये क्रियाएँ करनेमें मैंने लाभके बजाय हानि होते देखी है। यह अध्याय तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायका उपसंहाररूप समझना चाहिए। यह प्रयत्नशीलको आश्वासन देता है। हमें समता प्राप्त करनेका प्रयत्न हारकर कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

सातवाँ अध्याय

मंगल-प्रभात

२३-१२-१९३०

भगवान् बोले : “हे पार्थ, अब मैं तुम्हें बतलाऊँगा कि मुझमें चित्त पिरोकर और मेरा आश्रय लेकर कर्मयोगका आचरण करता हुआ मनुष्य निश्चयपूर्वक मुझे सम्पूर्ण रीतिसे कैसे पहचान सकता है। इस अनुभवयुक्त ज्ञानके बाद फिर और कुछ जाननेको बाकी नहीं रहेगा। हजारोंमें कोई-कोई ही उसकी प्राप्तिका प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवालोंमें कोई ही सफल होता है।

पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु तथा मन, बुद्धि और अहंकारवाली आठ प्रकारकी एक मेरी प्रकृति है। इसे 'अपरा' प्रकृति और दूसरेको 'परा’ प्रकृति कहते हैं, जो जीवरूप है। इन दो प्रकृतियोंसे अर्थात् देह और जीवके संबंधसे सारा जगत् है। जैसे मालाके आधारपर उसके मणि रहते हैं, वैसे जगत् मेरे आधारपर विद्यमान है। तात्पर्य, जलमें रस मैं हूँ, सूर्य-चन्द्रका तेज मैं हूँ, वेदोंका ॐकार मैं हूँ, आकाशका शब्द मैं हूँ, पुरुषोंका पराक्रम मैं हूँ, मिट्टीमें सुगंध मैं हूँ, अग्निका तेज मैं हूँ, प्राणीमात्रका जीवन मैं हूँ, तपस्वीका तप मैं हूँ, बुद्धिमानकी बुद्धि मैं हूँ, बलवान्का बल मैं हूँ, जीवमात्रमें विद्यमान धर्मकी अवरोधी कामना मैं हूँ, संक्षेपमें सत्त्व, रजस् और तमस् से उत्पन्न होनेवाले सब भावोंको मुझसे उत्पन्न हुआ जान, उनकी स्थिति मेरे आधारपर ही है। मेरी त्रिगुणी मायाके कारण इन तीन भावों या गुणोंमें रचे-पचे लोग मुझ अविनाशीको पहचान नहीं सकते। उसे तर जाना कठिन है, पर मेरी शरण लेनेवाले इस मायाको अर्थात् तीन गुणोंको लाँघ सकते हैं।

पर ऐसे मूढ़ लोग मेरी शरण कैसे ले सकते हैं, जिनके आचार-विचारका कोई ठिकाना नहीं है? वे तो मायामें पड़े अंधकारमें ही चक्कर काटा करते हैं और ज्ञानसे वंचित रहते हैं, पर श्रेष्ठ आचारवाले मुझे भजते हैं। इनमें कोई अपना दु:ख दूर करनेको मुझे भजता है, कोई मुझे पहचाननेकी इच्छासे भजता है और कोई कर्तव्य समझकर ज्ञानपूर्वक मुझे भजता है। मुझे भजनेका अर्थ है, मेरे जगत्की सेवा करना। उसमें कोई दु:खके मारे, कोई कुछ लाभ-प्राप्तिकी इच्छासे, कोई इस खयालसे कि चलो देखा जाय, क्या होता है और कोई समझ-बूझकर इसलिए कि उसके बिना उनसे रहा ही नहीं जाता,

सेवापरायण रहते हैं। ये अंतिम मेरे ज्ञानी भक्त हैं और मैं कहूँगा कि मुझे ये सबसे अधिक प्यारे हैं, या यह समझो कि वे मुझे अधिक-से-अधिक पहचानते हैं और मेरे निकट-से-निकट हैं। अनेक जन्मोंके बाद ही मनुष्य ऐसा ज्ञान पाता है और उसे पानेपर इस जगत्में मुझ वासुदेवके सिवा और कुछ नहीं देखता। पर कामनावाले मनुष्य तो भिन्न-भिन्न देवताओंको भजते हैं और जिसकी जैसी भक्ति, उसको वैसा फल देनेवाला तो मैं ही हूँ। उन ओछी समझवालोंको मिलनेवाला फल भी वैसा ही ओछा होता है, और उतनेसे ही उनको संतोष भी रहता है। वे अपनी कमअक्लीसे मानते हैं कि मुझे वे इंद्रियोंद्वारा पहचान सकते हैं। वे नहीं समझते कि मेरा अविनाशी और अनुपम स्वरूप इंद्रियोंसे परे है तथा हाथ, कान, नाक, आँख इत्यादि द्वारा पहचाना नहीं जा सकता। इसे मेरी योगमाया समझ कि इस प्रकार सारी चीजोंका विधाता होनेपर भी अज्ञानी लोग मुझे पहचान नहीं सकते। राग-द्वेषके द्वारा सुख-दुःख होते ही रहते हैं और उसके कारण जगत् मोहग्रस्त रहता है, पर जो उसमेंसे छूट गये हैं और जिनके आचार-विचार निर्मल हो गये हैं, वे तो अपने व्रतमें निश्चल रहकर निरंतर मुझे ही भजते हैं। वे पूर्ण ब्रह्मरूपसे सब प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले जीवरूपमें रहे हुए मुझे और मेरे कर्मको जानते हैं। यों जो मुझे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञरूपसे पहचानते हैं और इससे जिन्होंने समत्व प्राप्त किया है, वे मृत्युके अनन्तर जन्म-मरणके बंधनसे मुक्त हो जाते हैं; क्योंकि इतना जान लेनेपर उनका मन अन्यत्र नहीं भटकता और सारे जगत्को ईश्वरमय देखते हुए वे ईश्वरमें ही समा जाते हैं।"

आठवाँ अध्याय

सोम-प्रभात

२९-१२-१९३०

अर्जुन पूछता है : "आपने पूर्णब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधि-दैव, अधियज्ञका नाम लिया, पर इन सबका अर्थ मैंने समझा नहीं। फिर आप कहते हैं कि आपको अधिभूतरूपसे जानकर समत्वको प्राप्त हुए लोग मृत्युके समय पहचानते हैं। यह सब मुझे समझाइये।"

भगवान् ने उत्तर दिया : जो सर्वोत्तम नाशरहितस्वरूप है, वह पूर्णब्रह्म है और जो प्राणीमात्रमें कर्ता-भोक्तारूपसे देह धारण किये हुए है, वह अध्यात्म है। प्राणीमात्रकी उत्पत्ति जिस क्रियासे होती है, उसका नाम कर्म है। अत: यह भी कह सकते हैं कि जिस क्रियासे उत्पत्तिमात्र होती है, वह कर्म है। मेरा नाशवान् देहस्वरूप अधिभूत है और यज्ञद्वारा शुद्ध हुआ अध्यात्मस्वरूप अधियज्ञ है। यों देहरूपमें, मूर्च्छित जीवरूपमें, शुद्ध जीवरूपमें और पूर्ण ब्रह्मरूपमें सर्वत्र मैं ही हूँ और ऐसा जो मैं हूँ, उसका मृत्युके समयमें जो ध्यान धरता है, अपनेको विसार देता है, किसी प्रकारकी चिंता नहीं करता, इच्छा नहीं करता, वह निस्संदेह मेरे स्वरूपको प्राप्त करता है। मनुष्य जिस स्वरूपका नित्य ध्यान धरता है, अंतकालमें भी उसका ध्यान रहे तो उस स्वरूपको वह पाता है और इसीलिए तू नित्य मेरा ही स्परण रख। मुझमें ही मन-बुद्धि पिरो रख। तब मुझे ही पायेगा। तू इस प्रकार चित्तके स्थिर न हो पानेकी बात कहेगा। मेरा कहना है कि नित्यके अभ्याससे, नित्यके प्रयत्नसे इस प्रकार मनुष्य एकध्यान अवश्य हो जाता है, क्योंकि मैं तुझसे कह चुका हूँ कि मूलकी दृष्टिसे विचारनेपर तो देहधारी भी मेरा ही स्वरूप है। इसलिए मनुष्यको पहलेसे ही तैयारी करनी चाहिए कि मृत्युके समय मन चलायमान न हो, भक्तिमें लीन रहे, प्राणको स्थिर रखे और सर्वज्ञ पुरातन, नियन्ता, सूक्ष्म होते हुए भी सबके पालनकी शक्ति रखनेवाले, चिंतनद्वारा तत्काल न पहचाने जा सकनेवाले, सूर्यके समान अंधकार-अज्ञान मिटानेवाले परमात्माका ही स्मरण करे।

इस परमपदको वेद अक्षरब्रह्म नामसे पहचानते हैं, राग-द्वेषादि-त्यागी मुनि उसे पाते हैं और उस पदकी प्राप्तिके सब इच्छुक ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। तात्पर्य, काया, वाचा और मनको अंकुशमें रखते

हैं, विषयमात्रका तीनों प्रकारसे त्याग करते हैं। इंद्रियोंको समेट लेकर ॐका उच्चारण करते, मेरा ही चिंतन करते-करते देह छोड़नेवाले स्त्री-पुरुष परमपद पाते हैं। ऐसों-का चित्त कहीं अन्यत्र नहीं भटकता और यों मुझे पाकर यह दु:ख-निवासरूपी जन्म फिर नहीं लेना पड़ता। इस जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेका उपाय मेरी प्राप्ति ही है।

अपने सौ वर्षके जीवनकालसे मनुष्य कालका अनुमान लगाता है और उतने समयमें हजारों जाल फैलाता है, पर काल तो अनंत है। हजारों युगोंको ब्रह्माके एक दिनके बराबर समझ। इसमें मनुष्यके एक दिनकी या सौ वर्षकी क्या बिसात? इस तनिकसे समयको लेकर इतनी व्यर्थकी दौड़-धूप क्यों? जिस अनंत कालके चक्रमें मनुष्यका जीवन क्षणमात्रके समान है, उसमें तो ईश्वरका ध्यान ही शोभा देता है, क्षणिक भोगोंके पीछे दौड़ना नही। ब्रह्माके रात-दिनमें उत्पत्ति और नाश चलता ही रहता है और चलता रहेगा।

उत्पत्ति-लय करनेवाला ब्रह्मा भी मेरा ही भाव है। वह अव्यक्त है, इंद्रियोंसे नहीं जाना जा सकता। इससे भी परे मेरा अन्य अव्यक्त स्वरूप है, जिसका कुछ वर्णन मैंने तुझसे किया है। उसे पानेवाला जन्म-मरणसे छूट जाता है, क्योंकि इस स्वरूपके लिए रात-दिनवाला द्वन्द्व नहीं है, यह केवल शांत अचल स्वरूप है। इसके दर्शन अनन्य भक्तिसे ही होते हैं। इसीके आधारपर सारा जगत् है और वह स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है।

कहते हैं कि उत्तरायणके शुक्लपक्षके दिनोंमें मरनेवाला उपर्युक्त प्रकारसे स्मरण करता हुआ मुझे पाता है और दक्षिणायनमें, कृष्णपक्षकी रात्रिमें, मृत्यु पानेवालेके पुनर्जन्मके चक्कर बाकी रह जाते हैं। इसका अर्थ यों किया जा सकता है कि उत्तरायण और शुक्लपक्ष यह निष्काम सेवा-मार्ग है और दक्षिणायन और कृष्णपक्ष स्वार्थमार्ग है। सेवा-मार्ग अर्थात् ज्ञानमार्ग, स्वार्थमार्ग अर्थात् अज्ञानमार्ग। ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको मोक्ष है और अज्ञानमार्गसे चलनेवालेको बंधन। इन दोनों मार्गोकों जान लेनेपर कौन मोहमें रहकर अज्ञानमार्गको पसंद करेगा? इतना जाननेपर मनुष्यमात्रको सब पुण्य-फल छोड़कर, अनासक्त रहकर, कर्तव्यमें परायण रहकर मैंने जो कहा है, वह उत्तम स्थान पानेका ही प्रयत्न करना चाहिए।

नवाँ अध्याय

सोम-प्रभात

५-१-१९३१

गत अध्यायके अंतिम श्लोकमें योगीका उच्च स्थान बतला देनेपर भगवान्‌के लिए अब भक्तिकी महिमा बतलाना ही बाकी रह जाता है, क्योंकि गीताका योगी शुष्क ज्ञानी नहीं है, न बाह्याचारी भक्त ही। गीताका योगी ज्ञान और भक्तिमय अनासक्त कर्म करनेवाला है। अत: भगवान् कहते हैं—तुझमें द्वेष नहीं है, इससे तुझे मैं गुह्य ज्ञान कहता हूँ कि जिसे पाकर तेरा कल्याण होगा। यह ज्ञान सर्वोपरि है, पवित्र है और आचारमें अनायास लाया जा सकने योग्य है। जिसे इसमें श्रद्धा नहीं होती, वह मुझे नहीं पा सकता। मेरे स्वरूपको मनुष्यप्राणी इंद्रियोंद्वारा नहीं पहचान सकते, तथापि इस जगत् में वह व्यापक है। जगत् उसके आधारपर स्थित है। वह जगत्‌के आधारपर नहीं है। फिर यों भी कहा जाता है कि ये प्राणी मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूँ। यद्यपि मैं उनकी उत्पत्तिका कारण हूँ और उनका पोषणकर्ता हूँ। वे मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूँ, क्योंकि वे अज्ञानमें रहनेके कारण मुझे जानते नहीं हैं, उनमें भक्ति नहीं है। तू समझ कि यह मेरा चमत्कार है।

पर मैं प्राणियोंमें नहीं हूँ, ऐसा जान पड़ता है, तथापि वायुकी भाँति मैं सर्वत्र फैला हुआ हूँ और सारे जीव युगका अंत होनेपर लय हो जाते हैं और आरंभ होनेपर फिर जन्मते हैं। इन कर्मोंका कर्ता होनेपर भी वह मुझे बंधनकारक नहीं है, क्योंकि उनमें मुझे आसक्ति नहीं है, मैं उनमें उदासीन हूँ। वे कर्म होते रहते हैं, क्योंकि यह मेरी प्रकृति है, मेरा स्वभाव है। पर ऐसा जो मैं हूँ, उसे लोग पहचानते नहीं हैं, इसलिए वे नास्तिक बने रहते हैं। मेरे अस्तित्वसे ही इनकार करते हैं। ऐसे लोग झूठे हवाई महल बनाते रहते हैं। उनके कर्म भी व्यर्थ होते हैं और वे अज्ञानसे भरपूर होनेके कारण आसुरी वृत्तिवाले होते हैं। पर दैवी वृत्तिवाले अविनाशी और सिरजनहार जानकर मुझे भजते हैं। वे दृढ़-निश्चयी होते हैं, नित्य-प्रयत्नवान् रहते हैं, मेरा भजन-कीर्तन करते और मेरा ध्यान धरते हैं। इसके सिवा कितने ही मुझे एक ही माननेवाले हैं। कितने ही मुझे बहुरूपसे मानते हैं। मेरे अनंतगुण होनेके कारण बहुरूपसे माननेवाले भिन्न गुणोंको भिन्न रूपसे देखते हैं, पर इन सबको तू भक्त जान।

यज्ञका संकल्प मैं, यज्ञ मैं, पितरोंका आधार मैं, यज्ञकी वनस्पति मैं, मंत्र मैं, आहुति मैं, हविष्य मैं, अग्नि मैं और जगत्का पिता मैं, माता मैं, जगत्को धारण करनेवाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य भी मैं, ॐकार मंत्र मैं, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद मैं, गति मैं, पोषण मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, आश्रय मैं, कल्याण चाहनेवाला भी मैं, उत्पत्ति और नाश मैं, सर्दी-गर्मी मैं, सत् और असत् भी मैं हूँ।

वेदमें वर्णित क्रियाएँ फल-प्राप्तिके लिए होती हैं। अत: उन्हें करनेवाले स्वर्ग चाहे पायें, पर जन्म-मरणके चक्करसे नहीं छूटते। पर जो एक ही भावसे मेरा चिंतन करते रहते हैं और मुझे ही भजते हैं, उनका सारा भार मैं उठाता हूँ। उनकी आवश्यकताएँ मैं पूरी करता हूँ और उनकी मैं ही सँभाल करता हूँ। अन्य कुछ, दूसरे देवताओंमें श्रद्धा रखकर उन्हें भजते हैं। इसमें अज्ञान है, तथापि अंतमें तो वे भी मुझे ही भजनेवाले माने जायेंगे, क्योंकि यज्ञमात्रका मैं ही स्वामी हूँ। पर मेरी इस व्यापकताको न जानकर वे अंतिम स्थितिको पहुँच नहीं सकते। देवताओंको पूजनेवाले देवलोक, पितरोंको पूजनेवाले पितृलोक, भूतप्रेतादिको पूजनेवाले उनका लोक और ज्ञानपूर्वक मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। जो मुझे एक पत्तातक भक्तिपूर्वक अर्पण करते हैं, उन प्रयत्नशील मनुष्योंकी भक्तिको मैं स्वीकार करता हूँ। इसलिए जो कुछ तू करे, वह सब मुझे अर्पण करके ही कर। तब शुभ-अशुभ फलका उत्तरदायित्व तेरा नहीं रहेगा। जब तूने फलमात्रका त्याग कर दिया, तब तेरे लिए जन्म-मरणके चक्कर नहीं रह गये। मुझे सब प्राणी समान हैं। एक प्रिय और दूसरा अप्रिय हो, यह नहीं है। पर जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे तो मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ। इसमें पक्षपात नहीं है, बल्कि यह उन्होंने अपनी भक्तिका फल पाया है। इस भक्तिका चमत्कार ऐसा है कि जो एक भावसे मुझे भजते हैं, वे दुराचारी हों तो भी साधु बन जाते हैं। सूर्यके सामने जैसे अँधेरा नहीं ठहरता, वैसे मेरे पास आते ही मनुष्यके दुराचारोंका नाश हो जाता है। इसलिए तू निश्चय समझ ले कि मेरी भक्ति करनेवाले कभी नाशको प्राप्त ही नहीं होते। वे तो धर्मात्मा होते हैं और शांति भोगते हैं। इस भक्तिकी महिमा ऐसी है कि जो पापयोनिमें जनमे माने जाते हैं वे, और निरक्षर स्त्रियाँ, वैश्य और शुद्र, जो मेरा आश्रय लेते हैं वे, मुझे पाते ही हैं, तब पुण्यकर्म करनेवाले ब्राह्मण-क्षत्रियोंका तो कहना ही क्या रहा! जो भक्ति करता है, उसे उसका फल मिलता है। इसलिए तू जब असार संसारमें आ गया है तो मुझे भजकर उसे तर जा। अपना मन मुझमें पिरो दे, मेरा ही भक्त रह, अपने यज्ञ भी मेरे लिए

कर, अपने नमस्कार भी मुझे ही पहुँचा और इस भाँति मुझमें तू परायण होगा और अपनी आत्माको मुझमें होमकर शून्यवत् हो जायगा तो तू मुझे ही पायेगा।

मंगल-प्रभात

टिप्पणी : इसमेंसे हम पाते हैं कि भक्तिका तात्पर्य है ईश्वरमें आसक्ति। अनासक्तिके अभ्यासका भी यह सरल-से-सरल उपाय है। इसीसे अध्यायके आरंभमें प्रतिज्ञा की है कि भक्ति राजयोग है और सरल मार्ग है। हृदयमें जो बैठ जाय वह सरल है, जो न बैठे वह विकट है। इसीसे उसे 'सिरका सौदा' भी माना गया है। पर यह ऐसा है कि देखनेवाले जलते हैं। अंदर पड़े हुए महासुख मानते हैं। कवि लिखता है कि उबलते तेलकी कड़ाहीमें सुधन्वा हँसता था और बाहर खड़े हुए काँपते थे। कथा है कि नंद अंत्यजकी जब अग्निपरीक्षा हुई, तब वह अग्निमें नाचता था। इन सबकी सचाईकी ऐतिहासिकताकी खोजकी जरूरत नहीं है। जो किसी भी चीजमें लीन होता है, उसकी ऐसी ही स्थिति होती है। वह अपनेको भूल जाता है, पर प्रभुको छोड़कर दूसरेमें लीन कौन होगा? 'शक्कर गन्नेका स्वाद छोड़ कडुवे नीमको मत घोल रे, सूरज-चाँदका तेज तज, जुगनूसे मन मत जोड़ रे।'

अत: नवाँ अध्याय बतलाता है कि प्रभु-आसक्ति अर्थात् भक्तिके बिना फलमें अनासक्ति असंभव है। अंतिम श्लोक सारे अध्यायका निचोड़ है और हमारी भाषामें उसका अर्थ है : "तू मुझमें समा जा।"

दसवाँ अध्याय

सोम-प्रभात

१२-१-१९३१

भगवान् कहते हैं : दोबारा भक्तोंके हितके लिए कहता हूँ, सो सुन। देव और महर्षिगणतक मेरी उत्पत्ति नहीं जानते हैं, क्योंकि मेरे लिए उत्पन्नता ही नहीं है। मैं उककी और अन्य सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ। जो ज्ञानी मुझे अजन्मा और अनादिरूपमें पहचानते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि परमेश्वरको इस रूपमें जानने और अपनेको उसकी प्रजा अथवा उसके अंशकी भाँति पहचाननेपर मनुष्यकी पापवृत्ति नहीं रह सकती। पापवृत्तिका मूल ही निजसंबंधी अज्ञान है।

जैसे प्राणी मुझसे पैदा हुए हैं, वैसे उनके भिन्न-भिन्न भाव भी, जैसे क्षमा, सत्य, सुख, दुःख, जन्म-मृत्यु, भय-अभय आदि भी मुझसे उत्पन्न हुए हैं। यह सब मेरी विभूति है। जो यह जान लेते हैं, उनमें सहज ही समता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वे अहंताको छोड़ देते हैं। उनका चित्त मुझमें ही पिरोया हुआ रहता है, वे मुझे अपना सब कुछ अर्पण करते हैं, परस्पर मेरे विषयमें ही वार्तालाप करते हैं, मेरा ही कीर्तन करते हैं और संतोष तथा आनंदसे रहते हैं। इस प्रकार जो मुझे प्रेमपूर्वक भजते हैं और मुझमें ही जिनका मन रहता है, उन्हें मैं ज्ञान देता हूँ और उसके द्वारा वे मुझे पाते हैं।

तब अर्जुनने स्तुति की - आप ही परब्रह्म हैं, परमधाम हैं, पवित्र हैं, ऋषि आदि आपको आदिदेव, अजन्मा, ईश्वररूपसे भजते हैं, ऐसा आप ही कहते हैं। हे स्वामी, हे पिता, आपका स्वरूप कोई जानता नहीं है, आप ही अपनेको जानते हैं। अब मुझसे अपनी विभूतियाँ और साथ ही यह कहिये कि आपका चिंतन करते हुए मैं आपको कैसे पहचान सकता हूँ?

भगवान् ने जवाब दिया : मेरी विभूतियाँ अनंत हैं, उनमेंसे थोड़ी खास-खास तुमसे कह देता हूँ। सब प्राणियोंके हृदयमें रहा हुआ मैं हूँ। मैं ही उनकी उत्पत्ति, उनका मध्य और उनका अंत हूँ। आदित्योंमें विष्णु मैं, उज्ज्वल वस्तुओंमें प्रकाश देनेवाला सूर्य मैं, वायुओंमें मरीचि मैं, नक्षत्रोंमें चंद्र मैं, वेदोंमें सामवेद मैं, देवोंमें इंद्र मैं, इंद्रियोंमें मन मैं, प्राणियोंमें चेतनशक्ति मैं, रुद्रमें शंकर मैं, यक्ष-रक्षसोंमें कुबेर मैं, दैत्योंमें प्रह्लाद मैं, पशुओंमें सिंह मैं, पक्षियोंमें गरुड़ मैं और छल करनेवालोंमें द्यूत (जुआ) भी मुझे ही जान। इस

जगत्में जो कुछ होता है, वह मेरी मरजी बिना हो ही नहीं सकता। अच्छा और बुरा भी मैं ही होने देता हूँ, तभी होता है। यह जानकर मनुष्यको अभिमान छोड़ना चाहिए और बुरेसे बचना चाहिए, क्योंकि भले-बुरेका फल देनेवाला भी मैं हूँ। तू इतना जान कि यह सारा जगत् मेरी विभूतिके एक अंशमात्रसे स्थित है।

ग्यारहवाँ अध्याय

सोम-प्रभात

१२-१-१९३१

अर्जुनने विनय की : “भगवन्, आपने मुझे आत्माके विषयमें जो वचन कहे, उससे मेरा मोह दूर हो गया है। आप ही सब हैं, आप ही कर्ता हैं, आप ही संहर्ता हैं, आप नाशरहित हैं। यदि संभव हो तो अपने ईश्वरी रूपका दर्शन मुझे कराइये।“

भगवान् बोले : “मेरे रूप हजारों हैं और अनेक रंगवाले हैं। उसमें आदित्य, वसु, रुद्र इत्यादि समाये हुए हैं। मुझमें सारा जगत् - चर और अचर - समाया हुआ है। यह रूप तू अपने चर्म-चक्षुओंसे नहीं देख सकता। अत: मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ, उनके द्वारा तू देख।

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा : हे राजन् भगवान्ने अर्जुनको यह कहकर अपना जो अद्भुत रूप दिखाया, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। हम लोग नित्य एक सूर्य देखते हैं, पर खयाल कीजिये कि ऐसे हजारों सूर्य नित्य उगें तो उनका तेज जैसा होगा, उससे भी अधिक यह तेज चका-चौंध पैदा करनेवाला था। इसके आभूषण और वस्त्र भी ऐसे ही दिव्य थे। उसके दर्शन करके अर्जुनके रोएँ खड़े हो गये, उसका सिर चकराने लगा और काँपते-काँपते वह स्तुति करने लगा :

हे देव ! आपकी इस विशाल देहमें मैं तो सब कुछ और सब किसीको देखता हूँ। ब्रह्मा उसमें हैं, महादेव उसमें हैं, उसमें ऋषि हैं, सर्प हैं, आपके हाथ-मुँहका गिनना कठिन है। आपका आदि नहीं है, अंत नहीं है, मध्य नहीं है। आपका रूप मानो तेजका सुमेरु है। देखते आँखें चौंधिया जाती हैं, सुलगते हुए अंगारोंकी भाँति आप झलक रहे हैं और तप रहे हैं। आप ही जगत्के आधार हैं, आप ही पुराण-पुरुष हैं, आप ही धर्मके रक्षक हैं। जहाँ देखता हूँ, वहाँ आपके अवयव दिखाई दे रहे हैं। सूर्य-चंद्र तो आपकी आँखों-सरीखे जान पड़ते हैं। आपने ही इस पृथ्वी और आकाशको व्याप्त कर रखा है। आपका तेज सारे जगत्को तपा रहा है। यह जगत् थरथरा रहा है। देव, ऋषि, सिद्ध इत्यादि सब हाथ जोड़कर काँपते हुए आपकी स्तुति कर रहे हैं। यह विराट् रूप और यह तेज देखकर मैं तो व्याकुल हो गया हूँ, शांति और धैर्य छूटा जा रहा है। हे देव ! प्रसन्न होइये। आपकी दाढ़ें विकराल हैं, आपके मुँहमें, जैसे

दीपकपर पतंगे गिरते हैं, वैसे इन लोगोंको गिरते देख रहा हूँ और आप उनको चूर कर रहे हैं। यह उग्र रूप आप कौन हैं? आपकी प्रवृत्तिको मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।

भगवान् बोले : लोकोंका नाश करनेवाला मैं काल हूँ। तू चाहे लड़ या न लड़, इन सबका नाश समझ। तू तो निमित्तमात्र है।

अर्जुन बोला : हे देव, हे जगन्निवास, आप अक्षर हैं, सत् हैं, असत् हैं और उससे जो परे है, वह भी आप ही हैं। आप आदिदेव हैं, आप पुराणपुरुष हैं, आप इस जगत् के आश्रय हैं। आप ही जानने योग्य हैं। वायु, यम, अग्नि, प्रजापति भी आप ही हैं। आपको हजारों नमस्कार पहुँचें। अब अपना मूल रूप धारण कीजिये।

इसपर भगवान् ने कहा : तेरे ऊपर प्रसन्न होकर मैंने तुझे अपना विश्वरूप दिखाया है। वेदाभ्याससे, यज्ञसे, अन्य शास्त्रोंके अभ्याससे, दानसे, तपसे भी यह रूप नहीं देखा जा सकता, जो तूने आज देखा है। इसे देखकर तू परेशान मत हो। भय त्यागकर शांत हो और मेरा परिचित रूप देख। मेरे यह दर्शन देवोंको भी दुर्लभ हैं। यह दर्शन केवल शुद्ध भक्तिसे ही हो सकते हैं। जो अपने सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिमात्रको छोड़ता है और प्राणीमात्रके विषयमें प्रेममय रहता है, वही मुझे पाता है।

टिप्पणी : दसवेंकी भाँति इस अध्यायको भी मैंने जान-बूझकर संक्षिप्त किया है। यह अध्याय काव्यमय है। इसलिए या तो मूलमें अथवा अनुवादरूपमें जैसा है, वैसा ही बार-बार पढ़ने योग्य है। इससे भक्तिका रस उत्पन्न होनेकी संभावना है। वह रस पैदा हुआ है या नहीं, यह जाननेकी कसौटी अंतिम श्लोक है। सर्वार्पण बिना और सर्वव्यापक प्रेमके बिना भक्ति नहीं है। ईश्वरके कालरूपका मनन करनेसे और उसके मुखमें सृष्टिमात्रको समा जाना है—प्रतिक्षण कालका यह काम चलता ही रहता है—इसका भान आ जानेसे सर्वार्पण और जीवमात्रके साथ ऐक्य अनायास हो जाता है। चाहे, बिनचाहे, इस मुखमें हम अकल्पित क्षणमें पड़नेवाले हैं। वहाँ छोटे-बड़ेका, नीच-ऊँचका, स्त्री-पुरुषका, मनुष्य-मनुष्येतरका भेद नहीं रहता है। सब कालेश्वरके एक कौर हैं, यह जानकर हम क्यों दीन, शून्यवत् न बनें, क्यों सबके साथ मैत्री न करें? ऐसा करनेवालेको वह काल-स्वरूप भयंकर नहीं, बल्कि शांति-स्थल लगेगा।

बारहवाँ अध्याय

मंगल-प्रभात

४-११-१९३०

आज तो बारहवें अध्यायका सार देना चाहता हूँ।[१] यह भक्तियोग है। विवाहके अवसरपर दंपतीको पाँच यज्ञोंमें इसे भी एक यज्ञरूपसे कंठ करके मनन करनेको हम कहते हैं। भक्तिके बिना ज्ञान तथा कर्म शुष्क हैं और उनके बंधनरूप हो जानेकी संभावना है। इसलिए भक्ति-भावसे गीताका यह मनन आरंभ करना चाहिए।

अर्जुनने भगवान् से पूछा : साकार और निराकारको पूजनेवाले भक्तोंमें अधिक श्रेष्ठ कौन हैं?

भगवान् ने उत्तर दिया : जो मेरे साकार रूपका श्रद्धापूर्वक मनन करते हैं, उसमें लीन होते हैं, वे श्रद्धालु मेरे भक्त हैं, पर जो निराकार तत्त्वको भजते हैं और उसे भजनेके लिए समस्त इंद्रियोंका संयम करते हैं, सब जीवोंके प्रति समभाव रखते हैं, उनकी सेवा करते हैं, किसीको ऊँच-नीच नहीं गिनते, वे भी मुझे पाते हैं। इसलिए यह नहीं कह सकते कि दोनोंमें अमुक श्रेष्ठ है, पर निराकारकी भक्ति शरीरधारीद्वारा संपूर्ण रूपसे होना अशक्य माना जाता है, निराकार निर्गुण है, अत: मनुष्यकी कल्पनासे परे है। इसलिए सब देहधारी जाने-अनजाने साकारके ही भक्त हैं। सो तू तो मेरे साकार विश्वरूपमें ही अपना मन पिरो। सब उसे सौंप दे। पर यह न कर सकता हो तो चित्तके विकारोंको रोकनेका अभ्यास कर, यानी यम-नियम आदिका पालन करके, प्राणायाम, आसन आदिकी मदद लेकर मनको वशमें कर। ऐसा भी न कर सकता हो तो जो कुछ करता है सो मेरे ही लिए करता है, इस धारणासे अपने सब काम कर तो तेरा मोह, तेरी ममता क्षीण होती जायगी और त्यों-त्यों तू निर्मल - शुद्ध - होता जायगा और तुझमें भक्तिरस आ जायगा। यह भी न हो सकता हो तो कर्ममात्रके फलका त्याग करके यानी फलकी इच्छा छोड़ दे। तेरे हिस्सेमें जो काम आ पड़े, उसे करता रह। फलका मालिक मनुष्य हो ही नहीं सकता। बहुतेरे अंगोंके एकत्र होनेपर तब फल उपजता है, अत: तू केवल निमित्तमात्र हो जा। जो चार रीतियाँ मैंने बतायी हैं, उनमें किसीको कमोबेश मत मानना। इनमें जो तुझे अनुकूल हो, उससे तू भक्तिका रस ले ले। ऐसा लगता है कि ऊपर जो यम-नियम, प्राणायाम, आसन आदिका मार्ग बता आये हैं, उनकी

अपेक्षा श्रवण-मनन आदि ज्ञानमार्ग सरल हैं। उसकी अपेक्षा उपासनारूप ध्यान और ध्यानकी अपेक्षा कर्मफल-त्याग सरल है। सबके लिए एक ही वस्तु समानभावसे सरल नहीं होती और किसी-किसीको सभी मार्ग लेने पड़ते हैं। वे एक-दूसरेके साथ मिले-जुले तो हैं ही। चाहे जिस मार्गसे हो, तुझे तो भक्त होना है। जिस मार्गसे भक्ति सधे, उस मार्गसे उसे साध। मैं तुझे भक्तके लक्षण बतलाता हूँ - भक्त किसीका द्वेष न करे, किसीके प्रति वैर-भाव न रखे, जीवमात्रसे मैत्री रखे, जीवमात्रके प्रति करुणाका अभ्यास करे, ऐसा करनेके लिए ममता छोड़े, अपनापन मिटाकर शून्यवत् हो जाय, दुःख-सुखको समान माने। कोई दोष करे तो उसे क्षमा करे, (यह जानकर कि स्वयं अपने दोषोंके लिए संसारसे क्षमाका भूखा है) संतोषी रहे, अपने शुभ निश्चयोंसे कभी विचलित न हो। मन-बुद्धिसहित सर्वस्व मेरे अर्पण करे। उससे लोगोंको उद्वेग नहीं होना चाहिए, न लोग उससे डरें, वह स्वयं लोगोंसे दुःख न माने, न डरे। मेरा भक्त हर्ष, शोक, भय आदिसे मुक्त होता है। उसे किसी प्रकारकी इच्छा नहीं होती, वह पवित्र होता है, कुशल होता है, वह बड़े-बड़े आरम्भोंको त्यागे हुए होता है, निश्चयमें दृढ़ होते हुए भी शुभ और अशुभ परिणाम, दोनोंका वह त्याग करता है, अर्थात् उसके बारेमें निश्चिंत रहता है। उसके लिए शत्रु कौन और मित्र कौन? उसे मान क्या, अपमान क्या? वह तो मौन धारण करके जो मिल जाय, उससे संतोष रखकर एकाकीकी भाँति विचरता हुआ सब स्थितियोंमें स्थिर होकर रहता है। इस भाँति श्रद्धालु होकर चेलनेवाला मेरा भक्त है।

टिप्पणी :

प्रश्न : 'भक्त आरंभ न करे' का क्या मतलब है, कोई दृष्टांत देकर समझाइयेगा ?

उत्तर : 'भक्त आरंभ न करे' इसका मतलब यह है कि किसी भी व्यवसायके मनसूबे न गाँठे। जैसे एक व्यापारी आज कपड़ेका व्यापार करता है तो कल उसमें लकड़ीका और शामिल करनेका उद्यम करने लगा, अथवा कपड़ेकी एक दूकान है तो कल पाँच और दूकानें खोल बैठा, इसका नाम आस्म्भ है। भक्त उसमें न पड़े। यह नियम सेवाकार्यके बारेमें भी लागू होता है। आज खादीकी मारफत सेवा करता है तो कल गायकी मारफत, परसों खेतीकी मारफत और चौथे दिन डॉक्टरीकी मारफत। इस प्रकार सेवक भी फुदकता न फिरे। उसके हिस्सेमें जो आ जाय, उसे पूरी तरह करके मुक्त हो। जहाँ 'मैं' गया, वहाँ 'मुझे" क्या करनेको रह जाता है?

"सूतरने तांतणे मने हरजीए बांधी,

जेम ताणे तेम तेमनी रे

मने लागी कटारी प्रेमनी रे।"[२]

भक्तके सब आरंभ भगवान् रचता है। उसे सब कर्म प्रवाहप्राप्त होते हैं, इससे वह 'संतुष्टो येन केनचित्' रहे। सर्वारंभत्यागका भी यही अर्थ है। सर्वारंभ अर्थात् सारी प्रवृत्ति या काम नहीं, बल्कि उन्हें करनेके विचार, मनसूबे गाँठना। उनका त्याग करनेके मानी उनका आरंभ न करना, मनसूबे गाँठनेकी आदत हो तो उसे छोड़ देना। 'इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्' यह आरंभ त्यागका उलटा है। मेरे खयालमें तुम जो जानना चाहते हो, सब इसमें आ जाता है। कुछ बाकी रह गया हो तो पूछना।

---

१. गांधीजीने यह अध्याय सबसे पहले लिखकर भेजा था। पर अध्याय-क्रमके लिए यह यथास्थान दिया गया है।–संपादक

२. मुझे भगवान् ने सूतके धागेसे बाँध लिया है। ज्यों-ज्यों तानते हैं, मैं उनकी होती जाती हूँ। मुझे तो प्रेम-कटारी लगी है।

तेरहवाँ अध्याय

सोम-प्रभात

२६-१-१९३२

श्री भगवान् बोले : इस शरीरका दूसरा नाम क्षेत्र है और उसके जाननेवालेको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। सब शरीरमें मौजूद जो मैं (भगवान्) हूँ, उसे क्षेत्रज्ञ समझ, और वास्तविक ज्ञान वह है कि जिससे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद जाना जाय। पंच महाभूत—पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इंद्रियाँ - पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ - एक मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, संघात अर्थात् शरीर जिससे बना हुआ है उसकी एक होकर रहनेकी शक्ति, शरीरके परमाणुओंमें एक-दूसरेसे चिपटे रहनेका गुण, यह सब मिलकर विकारोंवाला क्षेत्र बना। इस शरीरको और उसके विकारोंको जानना चाहिए, क्योंकि उनको त्यागना है। इस त्यागके लिए ज्ञान चाहिए। यह ज्ञान अर्थात् मानीपनेका त्याग, दंभका त्याग, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु-सेवा, शुद्धता, स्थिरता, विषयोंपर अंकुश, विषयोंमें वैराग्य, अहंकारका त्याग, जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और उसके सिलसिलेमें रहे हुए रोगसमूह, दु:खसमूह और नित्य होनेवाले दोषोंका पूरा भान, स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, सगे-सम्बन्धी इत्यादिमेंसे मनको खींच लेना और ममता छोड़ना, अपने मनोनुकूल कुछ हो या मनके प्रतिकूल - उसमें समता रखना, ईश्वरकी अनन्य भक्ति, एकान्तसेवन, लोगोंमें मिलकर भोग भोगनेकी ओर अरुचि, आत्माके विषयमें ज्ञानकी प्यास और अंतमें आत्मदर्शन। इससे विपरीतका नाम अज्ञान है। इस ज्ञानके साधनसे जो जाननेकी चीज है - ज्ञेय है और जिसे जाननेसे मोक्ष मिलता है, उसके विषयमें थोड़ा सुन। यह ज्ञेय अनादि परब्रह्म है। अनादि है - अर्थात् उसे जन्म नहीं है - जब कुछ नहीं था, तब भी वह परब्रह्म तो था। वह सत् नहीं है और असत् भी नहीं है। उससे भी परे है। अन्य दृष्टिसे उसे सत् कह सकते हैं, क्योंकि वह नित्य है। तथापि उसकी नित्यताको भी मनुष्य नहीं पहचान सकता, इससे उसे सत् से भी परे कहा, उससे कुछ भी सूना नहीं है। उसे हजारों हाथ-पाँवोंवाला कह सकते हैं और इस प्रकार उसे हाथ-पैर आदि हैं, यह जान पड़ते हुए भी वह इंद्रियरहित है, उसे इंद्रियोंकी आवश्यकता नहीं है, उनसे वह अलिप्त है। इंद्रियाँ तो आज हैं और कल नहीं हैं। परब्रह्म तो नित्य है ही और यद्यपि वह सबमें व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है, इससे गुणोंका भोक्ता कहा जा सकता है, तथापि जो उसे नहीं पहचानते, उनके हिसाबसे तो वह बाहर

ही है। प्राणियोंके अन्दर तो वह है ही, क्योंकि सर्वव्यापक है। वैसे ही वह गति करता है और स्थिर भी है। सूक्ष्म है, इसलिए वह ऐसा भी है कि न जान पड़े। दूर भी है और नजदीक भी है। नाम-रूपका नाश है, तथापि वह तो है ही, इस प्रकार अविभक्त है; पर असंख्य प्राणियोंमें है, यह भी कहते हैं, इससे वह विभक्तरूपसे भी भासित होता है। वह उत्पन्न करता है, पालता है और वही मारता है। तेजोंका तेज है, अंधकारसे परे है, ज्ञानका किनारा उसमें आ गया है। इन सबमें मौजूद परब्रह्म यही जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है। ज्ञानमात्रकी प्राप्ति केवल उसकी प्राप्तिके लिए ही है।

प्रभु और उसकी माया दोनों अनादिसे चलते आये हैं। मायामेंसे विकार पैदा होते हैं और उनसे अनेक प्रकारके कर्म पैदा होते हैं। मायाके कारण जीव सुख-दुःख, पाप-पुण्यका भोगनेवाला बनता है। यह जानकर जो अलिप्त रहकर कर्तव्य-कर्म करता है, वह कर्म करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता; क्योंकि वह सर्वत्र ईश्वरको देखता है और उसकी प्रेरणाके बिना एक पत्तातक नहीं हिल सकता, यह जानकर वह अपने बारेमें अहंताको नहीं मानता है, अपनेको शरीरसे अलग देखता है और समझता है कि जैसे आकाश सर्वत्र होते हुए भी निर्लिप्त ही रहता है, वैसे जीव शरीरमें रहते हुए भी ज्ञानद्वारा निर्लिप्त रह सकता है।

चौदहवाँ अध्याय

मौनवार

२५-१-१९३२

श्री भगवान् बोले : जिस उत्तम ज्ञानको पाकर ऋषि-मुनियोंने परम सिद्धि पायी है, वह मैं तुझसे फिर कहता हूँ। उस ज्ञानके पाने और उसके अनुसार धर्मका आचरण करनेसे लोग जन्म-मरणके चक्करसे बच जाते हैं। हे अर्जुन, यह समझ कि मैं जीवमात्रका माता-पिता हूँ। प्रकृतिजन्य तीन गुण - सत्त्व, रजस् और तमस् - देहीको बाँधनेवाले हैं। इन गुणोंको उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भी कह सकते हैं। इनमें सत्त्वगुण निर्मल और निर्दोष है, प्रकाश देनेवाला है और इससे उसका संग सुखद होता है। रजस् रागसे, तृष्णासे पैदा होता है और वह मनुष्यको गड़बड़में डालता है। तमस्का मूल अज्ञान है, मोह है और इससे मनुष्य प्रमादी और आलसी बनता है। अत: संक्षेपमें कहा जाय तो सत्त्वमेंसे सुख, रजस् में से तृष्णादि और तमस्मेंसे आलस्य पैदा होता है। रजस् और तमस्को दबाकर सत्त्व जय प्राप्त करता है और सत्त्व और रजस्को दबाकर तमस् जय पाता है। देहके सब कामोंमें जब ज्ञानका अनुभव देखनेमें आये, तब यह जानना कि अब सत्त्वगुण प्रधान रूपसे काम कर रहा है। जब लोभ, गड़बड़, अशांति, प्रतिद्वंद्विता दिखाई दे, तब रजस्की वृद्धि जानो और जब अज्ञान, आलस्य, मोहका अनुभव हो, तब समझो कि तमस्का राज्य है। जिसके जीवममें सत्त्वगुण प्रधान होता है, वह मृत्युके अंतमें ज्ञाममय निर्दोष लोकमें जन्म पाता है, रजस्-प्रधान जो होता है, वह धाँधली (गड़बड़) लोकमें जाता है और तमस्-प्रधान मूढ़ योनिमें जन्मता है। सात्त्विक कर्मका फल निर्मल, राजसका दु:खमय और तामसका अज्ञानमय होता है। सात्त्विक लोककी उच्चगति, राजसकी मध्यम और तामसकी अधोगति होती है। मनुष्य जब गुणोंके सिवा दूसरेको कर्ता नहीं समझता और गुणोंसे परे जो मैं हूँ उसे जानता है, तब वह मेरे भावको पाता है। देहमें विद्यमान इन तीन गुणोंको जो देही पार कर जाता है, वह जन्म, जरा और मृत्युके दु:खोंसे छूटकर अमृतमय मोक्षको प्राप्त होता है।

अर्जुन पूछता है : गुणातीतकी ऐसी सुन्दर गति होती है तो बतलाइये कि इसके लक्षण कैसे हैं, इसका आचरण कैसा है और तीनों गुणोंको किस प्रकार पार किया जाय?

भगवान् उत्तर देते हैं : जो मनुष्य अपनेपर जो आ पड़े, फिर भले ही प्रकाश हो या प्रवृत्ति हो, या मोह हो, ज्ञान हो, गड़बड़ हो या अज्ञान, उसका अतिशय दु:ख या सुख न मान या इच्छा न करे; जो गुणोंके बारेमें तटस्थ रहकर विचलित नहीं होता, गुण अपने गुणानुसार बरतते हैं, यह समझकर जो स्थिर रहता है; जो सुख-दु:खको सम मानता है; जिसे लोहा, पत्थर या सोना समान है; जिसे प्रिय-अप्रियकी बात नहीं है; जिसपर अपनी स्तुति या निंदा कोई प्रभाव नहीं डाल सकती, जिसे मान-अपमान समान है; जो शत्रु-मित्रके प्रति समभाव रखता है; जिसने सब आरंभोंका त्याग किया है, वह गुणातीत कहलाता है। मेरे बताये इन लक्षणोंसे भड़कनेकी जरूरत नहीं है, न आलसी होकर सिरपर हाथ रखकर बैठ जानेकी। मैंने तो सिद्धकी दशा बतलायी है। वहाँतक पहुँचनेका मार्ग यह है - व्यभिचार-रहित भक्तियोगके द्वारा मेरी सेवा कर। (तीसरे अध्यायसे लगाकर) तुझे बताया है कि कर्म बिना, प्रवृत्ति बिना कोई साँसतक नहीं ले सकता, अत: कर्म तो देहीमात्रको लगे हुए हैं। जो गुणोंको पार कर जाना चाहता है, वह साधक सब कर्म मुझे अर्पण करे और फलकी इच्छातक भी न करे। ऐसा करनेमें उसके कर्म उसे विघ्नरूप नहीं होंगे; क्योंकि ब्रह्म मैं हूँ मोक्ष मैं हूँ, सनातन धर्म मैं हूँ, अनंत सुख मैं हूँ, जो कहो, वह मैं हूँ। मनुष्य शून्यवंत् हो जाय तो मुझे ही सर्वत्र देखे, इसे गुणातीत कहेंगे।

पन्द्रहवाँ अध्याय

रातको

३१-१-१९३२

श्री भगवान् बोले : इस संसारको दो तरहसे देखा जा सकता है - एक इस तरह : जिसकी जड़ ऊपर है, जिसकी शाखा नीचे है और जिसे वेदरूपी पत्ते हैं; ऐसे पीपलके रूपमें जो संसारको देखता है, वह वेदको जाननेवाला ज्ञानी है। दूसरी रीति यह है : संसाररूपी वृक्षकी शाखाएँ ऊपर-नीचे फैली हुई हैं। उसके तीन गुणोंसे बढ़े हुए विषयरूपी अंकुर हैं और वे विषय जीवको मनुष्य-लोकमें कर्मके बंधनमें डालते हैं। इस वृक्षका स्वरूप नहीं जाना जा सकता, उसका आरंभ नहीं है, न अंत है, न कोई ठिकाना।

वह दूसरे प्रकारका संसार-वृक्ष है। उसने यद्यपि जड़ गहरी पकड़ी है, तथापि उसे असहकाररूपी शस्त्रसे काटना चाहिए कि जिससे आत्माको वह लोक प्राप्त हो सके, जहाँसे उसे वापस चक्कर न करना पड़े। ऐसा करनेके लिए वह निरंतर उस आदिपुरुषको भजे कि जिसकी मायासे यह पुरानी प्रवृत्ति पसरी हुई है। जिन्होंने मान-मोहको छोड़ दिया है, जिन्होंने संग-दोषको जीत लिया, जो आत्मामें लीन हैं, जो विषयोंसे अलग हो गये हैं, जिन्हें सुख-दु:ख समान है, वह ज्ञानी उस अव्यय पदको पाते हैं।

इस जगह सूर्यको या चंद्रको या अग्निको तेज पहुँचानेकी जरूरत नहीं पड़ती। जहाँ जानेके बाद लौटना नहीं रह जाता, वह मेरा परमधाम है।

जीवलोकमें मेरा सनातन अंश जीवरूपमें, प्रकृतिमें विद्यमान मनसहित छह इंद्रियोंको आकर्षित करता है। जब जीव देह धारण करता है और तजता है तब, जैसे वायु अपने स्थलसे गंधोंको साथ लिये चलता है, यह जीव भी इंद्रियोंको साथ लिये हुए विचरता है। कान, आँख, त्वचा, जीभ और नाक तथा मन इतनोंका सहारा लेकर जीव विषयोंका सेवन करता है। गति करते हुए, स्थिर रहते हुए या भोग भोगते हुए गुणोंवाले इस जीवको मोहमें पड़े हुए अज्ञानी पहचानते नहीं, ज्ञानी पहचानते हैं। यत्न करनेवाले योगी अपनेमें विद्यमान इस जीवको पहचानते हैं, पर जिसने समभावरूपी योगको नहीं साधा है, वह यत्न करता हुआ भी उसे पहचानता नहीं है।

सूर्यका जो तेज जगत्को प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमामें है, जो अग्निमें है, उन सारे तेजोंको मेरा तेज जान। अपनी शक्तिद्वारा शरीरमें प्रवेश करके मैं जीवोंको धारण करता हूँ। रस उत्पन्न करनेवाला सोम बनकर ओषधिमात्रका पोषण करता हूँ। प्राणियोंकी देहमें रह करके जठराग्नि बनकर प्राण, अपान वायुको समान करके चार प्रकारका अन्न पचाता हूँ। सबके हृदयके भीतर विद्यमान हूँ। मेरे द्वारा ही स्मृति है, ज्ञान है, उसका अभाव है, सब वेदोंके द्वारा जानने योग्य जो है, वह मैं हूँ। वेदान्त भी मैं हूँ, वेदान्तको जाननेवाला भी मैं हूँ।

इस लोकमें कहा जाता है कि दो पुरुष हैं - क्षर और अक्षर अथवा नाशवान् और नाशरहित। इनमें जीव क्षर कहलाते हैं, उनमें स्थिर हुआ मैं अक्षर हूँ, और उससे भी परे जो उत्तम पुरुष है, वह परमात्मा कहलाता है। वह अव्यय ईश्वर तीनों लोकमें प्रवेश करके उसका पालन करता है, वह भी मैं हूँ; इससें मैं क्षर और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, और लोकमें, वेदमें, पुरुषोत्तमरूपसे प्रसिद्ध हूँ। इस प्रकार जो ज्ञानी मुझे पुरुषोत्तमरूपसे पहचानता है, वह सब जानता है और मुझे सब भावोंद्वारा भजता है।

हे निष्पाप अर्जुन, यह अति गुह्य शास्त्र मैंने तुझे कहा है। इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान् बनता है और अपने ध्येयको पहुँचता है।

सोलहवाँ अध्याय

यरवदा मंदिर

७-२-१९३२

श्री भगवान् कहते हैं : अब मैं तुझे धर्मवृत्ति और अधर्मवृत्तिका भेद बतलाता हूँ। धर्मवृत्तिके बारेमें तो मैं पहले बहुत कह गया हूँ, तो भी उसके लक्षण कह जाता हूँ। जिसमें धर्मवृत्ति होती है, उसमें निर्भयता, अंतःकरणकी शुद्धि, ज्ञान, समता, इंद्रिय-दमन, यज्ञ, शास्त्रोंका अभ्यास, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, किसीकी चुगली न खाना अर्थात् अपैशुन्यता, भूतमात्रके प्रति दया, अलोलुपता, कोमलता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धीरज, अंतर और बाहरकी स्वच्छता, अद्रोह और निरभिमानता होती है।

अधर्म वृत्तिवालेमें दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान देखनेमें आता है।

धर्मवृत्ति मनुष्यको मोक्षकी ओर ले जाती है। अधर्मवृत्ति बंधनमें डालती है। हे अर्जुन, तू तो धर्मवृत्ति लेकर ही जनमा है।

अधर्मवृत्तिका थोड़ा विस्तार कह देता हूँ कि जिससे उसका त्याग सहजमें लोग कर सकें।

अधर्मवृत्तिवाला प्रवृत्ति और निवृत्तिका भेद नहीं जानता है, उसे शुद्ध-अशुद्धका या सत्यासत्यका भान नहीं होता तो फिर उसके बर्तावका तो ठिकाना ही कहाँसे होगा? उसके मन जगत् झूठा, निराधार है, जगत्का कोई नियंता नहीं है, स्त्री-पुरुषका संबंध ही उसका जगत् है, अत: इसमें विषय-भोगके सिवा दूसरा विचार नहीं मिलता।

ऐसी वृत्तिवालोंके कार्य भयानक होते हैं, उनकी मति मंद होती है, ऐसे लोग अपने दुष्ट विचारोंको पकड़े रहते हैं और जगत् के नाशके लिए ही उनकी सब प्रवृत्तियाँ होती हैं। उनकी कामनाओंका अंत ही नहीं आता। वे दंभ, मान, मदमें भूले रहते हैं। उनकी चिंताका भी पार नहीं होता। उन्हें नित्य नये भोग चाहिए। सैकड़ों आशाओंके महल चुनते रहते हैं और अपनी कामनाके पोषणके लिए द्रव्य एकत्र करनेमें न्याय-अन्यायका भेद बिलकुल छोड़ देते हैं।

आज यह पाया और कल वह और प्राप्त करूँगा; इस शत्रुको आज मारा, फिर दूसरेको मारूँगा; मैं बलवान हूँ; मेरे पास ऋद्धि-सिद्धि है; मेरे समान दूसरा कौन है; कीर्ति-प्राप्तिके लिए यज्ञ करूँगा; दान दूँगा और चैनकी वंशी बजाऊँगा; यों मन-ही-मन मानता हुआ वह खुश होता रहता है और अन्तमें मोह-जालमें फँसकर नरकवास पाता है।

ये आसुरी वृत्तिवाले प्राणी अपने घमंडमें भूले रहकर परनिंदा करते हुए सर्वव्यापक ईश्वरका द्वेष करते हैं और इससे वह बार-बार आसुरी योनिमें जन्मते हैं।

नरकके, आत्माको नाश करनेवाले, ये तीन दरवाजे हैं - काम, क्रोध और लोभ। सबको इन तीनोंका त्याग करना चाहिए। उनका त्याग करनेवाले कल्याणमार्गके पथिक होते हैं और वे परमगतिको पाते हैं।

जो अनादि सिद्धांतरूपी शास्त्रोंका त्याग करके स्वेच्छासे भोगमें पड़े रहते हैं, वे न सुख पाते हैं और न कल्याण मार्गमें रहकर शांति पाते हैं। इससे कार्य-अकार्यका निर्णय करनेमें अनुभवियोंसे अचल सिद्धांत जान लेने चाहिए और उनका अनुसरण करके आचार-विचारका निश्चय करना चाहिए।

सत्रहवाँ अध्याय

यरवदा मंदिर

१४-२-१९३२

अर्जुन पूछता है—जो शिष्टाचार छोड़कर भी श्रद्धापूर्वक सेवा करते हैं, उनकी गति कैसी होती है?

भगवान् उत्तर देते हैं—श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। श्रद्धाके अनुसार मनुष्य होता है।

सात्त्विक मनुष्य ईश्वरको, राजस यक्ष-राक्षसोंको और तामस भूत-प्रेतोंको भजता है।

पर किसीकी श्रद्धा कैसी है, यह एकाएक नहीं जाना जा सकता। उसका आहार कैसा है, उसका तप कैसा है, यज्ञ कैसा है, दान कैसा है, यह जानना चाहिए और उन सबके भी तीन-तीन प्रकार हैं, जो बतलाता हूँ।

जिस आहारसे आयु, निर्मलता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ती है, वह आहार सात्त्विक कहलाता है। जो तीखा, खट्टा, चरपरा और गरम होता है, वह राजस है। उससे दु:ख और रोग उत्पन्न होते हैं। जो रींधा हुआ आहार बासी हो, बदबू करता हो, जूठा हो और अन्य प्रकारसे अपवित्र हो, उसे तामस जानना।

जिस यज्ञके करनेमें फलकी इच्छा नहीं है, जो कर्तव्यरूपसे तन्मयतासे होता है, वह सात्त्विक माना जाता है; जिसमें फलकी आशा है और दंभ भी है, उसे राजस यज्ञ जानना; जिसमें कोई विधि नहीं है, न कुछ उपज है, न कोई मंत्र है, न कोई त्याग है, वह यज्ञ तामस है।

जिसमें संतोंकी पूजा है, पवित्रता है, ब्रह्मचर्य है, अहिंसा है, वह शारीरिक तप है। सत्य, प्रिय, हितकर वचन और धर्म-ग्रन्थका अभ्यास वाचिक तप है। मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, संयम, शुद्ध भावना, यह मानसिक तप कहलाता है। ऐसा शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप, जो समभावसे फलेच्छाका त्याग करके किया जाता है, वह सात्त्विक तप कहलाता है। जो तप मानकी आशासे,

दंभपूर्वक किया जाता है, उसे राजस जानना और जो तप पीड़ित होकर और दुराग्रहसे या दूसरेके नाशके लिए किया जाय, जिसमें शरीरस्थ आत्माको क्लेश हो, वह तप तामस है।

कर्तव्य-बुद्धिसे दिया गया, बिना फलेच्छाके देश, काल, पात्र देखकर दिया गया दान सात्त्विक है। जिसमें बदलेकी आशा है और जिसे देते हुए संकोच हो, वह दान राजस है और देश-कालादिका विचार किये बिना, तिरस्कृत भावसे या मान बिना दिया हुआ दान तामस है।

वेदोंने ब्रह्माका वर्णन ॐतत्सत् रूपसे किया है, अत: श्रद्धालुको चाहिए कि यज्ञ, दान, तप आदि क्रिया इसका उच्चारण करके करे। ॐ अर्थात् एकाक्षरी ब्रह्म। तत् अर्थात् वह सत् अर्थात् सत्य, कल्याणरूप। मतलब कि ईश्वर एक है, यही है, यही सत्य है, यही कल्याण करनेवाला है। ऐसी भावना रखकर और ईश्वरार्पणबुद्धिसे जो यज्ञादि करते हैं, उनकी श्रद्धा सात्त्विक है और वह शिष्टाचारको न जाननेके कारणसे अथवा जानते हुए भी, ईश्वरार्पणबुद्धिसे उससे कुछ भिन्न करते हैं, तथापि वह दोषरहित है।

पर जो क्रिया ईश्वरार्पणबुद्धिके बिना होती है, वह बिना श्रद्धाकी मानी जाती है। वह असत् है।

अठारहवाँ अध्याय

यरवदा मंदिर

२१-२-१९३२

पिछले सोलह अध्यायोंके मननके बाद भी अर्जुनके मनमें शंका बनी रह जाती है; क्योंकि गीताका संन्यास उसे प्रचलित संन्याससे भिन्न लगता है। उसे लगता है, त्याग और संन्यास दो अलग-अलग चीजें हैं क्या !

इस शंकाका निवारण करते हुए भगवान् इस अंतिम अध्यायमें गीता-शिक्षणका सार दे देते हैं।

कितने ही कर्मोंमें कामना भरी होती है; अनेक प्रकारकी इच्छाओंकी पूर्तिके लिए मनुष्य अनेक उद्यम रचता है। यह काम्य कर्म है। अन्य आवश्यक और स्वाभाविक कर्म हैं, जैसे साँस लेना, देहकी रक्षाभरको खाना, पीना, पहनना, ओढ़ना, सोना इत्यादि। और तीसरा कर्म पारमार्थिक है। इनमेंसे काम्य कर्मका त्याग गीताका संन्यास है और कर्ममात्रके फलका त्याग गीता-मान्य त्याग है।

कह सकते हैं कि कर्ममात्रमें कुछ दोष तो अवश्य हैं ही, तथापि यज्ञार्थ अर्थात् परोपकारार्थ कर्मका त्याग विहित नहीं है। यज्ञमें दान और तप आ जाते हैं; पर परमार्थमें भी आसक्ति, मोह नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसमें बुराईके घुस आनेकी संभावना है :

मोहवश नियत कर्मका त्याग तामस त्याग है। देहके कष्टके खयालसे किया हुआ त्याग राजस है; पर सेवा-कार्य करनेकी भावनासे, बिना फलकी इच्छाका त्याग सच्चा सात्त्विक त्याग है। अत: यहाँ कर्ममात्रका त्याग नहीं है, बल्कि कर्तव्य-कर्मके फलका त्याग है और दूसरे अर्थात् काम्य कर्मका त्याग तो है ही। ऐसे त्यागीको शंकाएँ नहीं उठतीं। उसकी भावना शुद्ध होती है और वह सुविधा-असुविधाका विचार नहीं करता।

जो कर्म-फलका त्याग नहीं करते हैं, उन्हें तो अच्छे-बुरे फल भोगने ही पड़ते हैं। इससे वे बंधनमें पड़े रहते हैं। फलत्यागी बंधनमुक्त हो जाता है।

और कर्मके विषयमें मोह क्या? अपने कर्तापनका अभिमान मिथ्या है। कर्ममात्रकी सिद्धिमें पाँच कारण होते हैं - स्थान, कर्ता, साधन, क्रियाएँ और यह सब होनेपर भी अंतिम दैव है।

यह समझकर मनुष्यको अभिमानका त्याग करना चाहिए। अहंता छोड़कर कुछ भी करनेवालेके बारेमें कहा जा सकता है कि वह करते हुए भी नहीं करता है; क्योंकि उसे वह कर्म बंधनकर्ता नहीं होता। ऐसे निरभिमान, शून्यवत् बने हुए मनुष्यके विषयमें कह सकते हैं कि वह मारते हुए भी नहीं मारता है। इसके मानी यह नहीं होते कि कोई मनुष्य शून्यवत् होते हुए भी हिंसा करता है और अलिप्त रहता है, निरभिमानीको हिंसा करनेका प्रयोजन ही क्या है।

कर्मकी प्रेरणामें तीन वस्तुएँ होती हैं - ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञान और उसके तीन अंग होते हैं - इंद्रियाँ, क्रिया और कर्ता। जो करना है, वह ज्ञेय है। जो उसकी रीति है, वह ज्ञान है और जाननेवाला जो है, वह परिज्ञाता है। इस प्रकार प्रेरणा होनेके बाद कर्म होता है। उसमें इंद्रियाँ कारण होती हैं, जो करनेको है, वह क्रिया और उसका करनेवाला जो है, वह कर्ता है। इस प्रकार विचारमेंसे आचार होता है। जिसके द्वारा हम प्राणीमात्रमें एक ही भाव देखें, अर्थात् सब कुछ भिन्न-भिन्न लगते हुए भी गहराईमें उतरनेपर एक ही भासित हों तो वह सात्त्विक ज्ञान है।

इससे उलटा, जो भिन्न दिखाई देता है, वह भिन्न ही भासित हो तो वह राजस ज्ञान है।

और जहाँ कुछ पता ही नहीं लगता और सब बिना कारणके गड़बड़ लगता है, वह तामस ज्ञान है।

ज्ञानके विभागकी भाँति कर्मके भी विभाग हैं। जहाँ फलेच्छा नहीं है, राग-द्वेष नहीं है, वह कर्म सात्त्विक है। जहाँ भोगकी इच्छा है, जहाँ 'मैं करता हूँ' यह अभिमान है और इससे जहाँ हो-हल्ला है, वह राजस कर्म है। जहाँ परिणामकी, हानिकी या हिंसाकी, शक्तिकी परवाह नहीं है और जो मोहके वश होकर होता है, वह तामस कर्म है।

कर्मकी भाँति कर्ता भी तीन तरहके समझने चाहिए। सात्त्विक कर्ता वह है, जिसे राग नहीं है, अहंकार नहीं है, तथापि जिसमें दृढ़ता है, साहस है, और जिसे अच्छे-बुरे फलसे हर्ष-शोक नहीं है। राजस कर्तामें राग होता है, लोभ होता है, हिंसा होती है, हर्ष-शोक तो जरूर ही होता है, तो फिर कर्म-फलकी इच्छाका तो कहना ही क्या? और तामस कर्ता अव्यवस्थित, दीर्घसूत्री, हठी, शठ, आलसी, संक्षेपमें कहा जाय तो संस्काररहित होता है।

बुद्धि, धृति और सुखके भी भिन्न-भिन्न प्रकार जानने योग्य हैं।

सात्त्विक बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बंध-मोक्ष आदिका सही भेद करती और जानती है। राजसी बुद्धि यह भेद करने तो चलती है, पर गलत या विपरीत कर लेती है और तामसी बुद्धि तो धर्मको अधर्म मानती है। सब उल्टा ही निहारती है।

धृति अर्थात् धारणा, कुछ भी ग्रहण करके उससे लगे रहनेकी शक्ति। यह शक्ति अल्पाधिक प्रमाणमें सबमें है। यदि यह न हो तो जगत् एक क्षण भी न टिक सके। अब जिसमें मन, प्राण और इंद्रियोंकी क्रियाकी समता है, समानता है और एक निष्ठा है, वहाँ धृति सात्त्विकी है और जिसके द्वारा मनुष्य धर्म, काम और अर्थको आसाक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है। जो धृति मनुष्यको निंदा, भय, शोक, निराशा, मद वगैरह नहीं छोड़ने देती, वह तामसी है।

सात्त्विक सुख वह है, जिसमें दुःखका अनुभव नहीं है, जिसमें आत्मा प्रसन्न रहता है, जो शुरूमें जहर-सा लगनेपर भी, परिणाममें, अमृतके समान ही है। विषयभोगमें, जो शुरूमें मधुर लगता है, पर बादको जहरके समान हो जाता है, वह राजस सुख है और जिसमें केवल मूर्च्छा, आलस्य, निद्रा ही है, वह तामस सुख है।

इस प्रकार सब वस्तुओंके तीन हिस्से किये जा सकते हैं। ब्राह्मणादि चार वर्ण भी इन तीन गुणोंके अल्पाधिक्यके कारण हुए हैं। ब्राह्मणके कर्ममें शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता होनी चाहिए। क्षत्रियोंमें शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें पीछे न हटना, दान, राज्य चलानेकी शक्ति होनी चाहिए। खेती, गो-रक्षा और व्यापार वैश्यका कर्म है और शूद्रका सेवा। इसका यह मतलब नहीं कि एकके गुण दूसरेमें नहीं होते, अथवा इन गुणोंको हासिल करनेका उसे हक नहीं है; पर उपर्युक्त भाँतिके गुण या कर्मसे उस-उस वर्णकी पहचान हो सकती है। यदि हरएक वर्णके गुण-कर्म पहचाने जायूँ तो परस्पर द्वेष-भाव न हो, स्पर्द्धा न हो। ऊँच-नीचकी भावनाकी यहाँ कोई गुंजाइश नहीं है; बल्कि सब अपने स्वभावके अनुसार निष्काम भावसे अपने कर्म करते रहें तो उन कर्मोंको करते हुए वे मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं। इसीलिए कहा है कि परधर्म चाहे सरल लगता हो, स्वधर्म चाहे खोखला लगता हो, तो भी स्वधर्म अच्छा है। स्वभावजन्य कर्ममें पाप न होनेकी संभावना है, क्योंकि उसीमें निष्कामताकी

पाबंदी हो सकती है, दूसरा करनेकी इच्छामें ही कामना आ जाती है। बाकी तो जैसे अग्निमात्रमें धुँआ है, वैसे ही कर्ममात्रमें दोष तो अवश्य है; पर सहजप्राप्त कर्मफलकी इच्छाके बिना होते हैं, इसलिए कर्मका दोष नहीं लगता।

जो इस प्रकार स्वधर्मका पालन करता हुआ शुद्ध हो गया है, जिसने मनको वशमें कर रखा है, जिसने पाँच विषयोंको छोड़ दिया है, जिसने राग-द्वेषको जीत लिया है, जो एकांतसेवी अर्थात् अंतरध्यानी रह सकता है, जो अल्पाहार करके मन, वचन, कायाको अंकुशमें रखता है, ईश्वरका ध्यान जिसे बराबर बना रहता है, जिसने अहंकार, काम, क्रोध, परिग्रह इत्यादि तज दिये हैं, वह शांत योगी ब्रह्मभावको पाने योग्य है। ऐसा मनुष्य सबके प्रति समभाव रखता है और हर्ष-शोक नहीं करता, ऐसा भक्त ईश्वर-तत्त्वको यथार्थ जानता है और ईश्वरमें लीन हो जाता है। इस प्रकार जो भगवान् का आश्रय लेता है, वह अमृत पद पाता है। इसलिए भगवान् कहते हैं - "सब मुझे अर्पण कर मुझमें परायण हो और विवेक-बुद्धिका आश्रय लेकर मुझमें चित्त पिरो दे। ऐसा करेगा तो सारी विडंबनाओंसे छूट जायगा, पर जो अहंकार रखकर मेरी नहीं सुनेगा तो विनाशको प्राप्त होगा। सौ बातकी एक बात तो यह है कि सभी प्रपंचोंको त्यागकर मेरी शरण ले तो तू पापमुक्त हो जायगा। जो तपस्वी नहीं है, भक्त नहीं है, जिसे सुननेकी इच्छा नहीं है और जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उसे यह रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें नहीं कहना चाहिए। तथापि जो मेरा गुह्य ज्ञान मेरे भक्तोंको देगा, वह मेरी भक्ति करनेके कारण अवश्य मुझे पायेगा।"

अंतमें संजय धृतराष्ट्रसे कहता है - जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं, जहाँ धनुर्धारी पार्थ हैं, वहाँ श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है।

यहाँ कृष्णको योगेश्वर विशेषण दिया गया है। इससे उसका शाश्वत अर्थ, शुद्ध अनुभव ज्ञान किया गया है और धनुर्धारी पार्थ कहकर यह बतलाया गया है कि जहाँ ऐसे अनुभवसिद्ध ज्ञानको अनुसरण करनेवाली क्रिया है, वहाँ परम नीतिकी अवरोधिनी मनोकामना सिद्ध होती है।

* * * * *

प्रास्ताविक

गीता महाभारतका एक नन्हा-सा विभाग है। महाभारत ऐतिहासिक ग्रंथ माना जाता है, पर हमारे मतसे महाभारत और रामायण ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं हैं, बल्कि धर्मग्रंथ हैं। या उसे ऐतिहासिक ही कहना चाहें तो वह आत्माका इतिहास है और वह हजारों वर्ष पहले क्या हुआ, यह नहीं बताता, बल्कि प्रत्येक मनुष्य-देहमें क्या जारी है, इसकी वह एक तस्वीर है। महाभारत और रामायण दोनोंमें देव और असुरके – राम और रावणके बीच नित्य चलनेवाली लड़ाईका वर्णन है। ऐसे वर्णनमें गीता कृष्ण-अर्जुनके बीचका संवाद है। उस संवादका वर्णन अंध धृतराष्ट्रसे संजय करता है। गीताके मानी हैं गायी गयी। इसमें 'उपनिषद्' अध्याहार है। अत: पूरा अर्थ हुआ, गाया गया उपनिषद्। उपनिषद् अर्थात् ज्ञान-बोध। यानी गीताका अर्थ हुआ श्रीकृष्णद्वारा अर्जुनको दिया हुआ बोध। हमें यह समझकर गीता पढ़नी चाहिए कि हमारी देहमें अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान् आज विराजमान हैं और जब जिज्ञासु अर्जुनरूप होकर धर्म-संकटमें अन्तर्यामी भगवान् से पूछेगा, उसकी शरण लेगा तो उस समय वह हमें शरण देनेको तैयार मिलेंगे। हम ही सोये हैं, अंतर्यामी तो सदा जाग्रत है। वह बैठा राह देखता है कि हममें कब जिज्ञासा उत्पन्न हो। पर हमें सवाल भी पूछना नहीं आता, सवाल पूछनेकी मनमें भी नहीं उठती। इस कारण गीता-सरीखी पुस्तकका नित्य ध्यान धरते हैं, उसका भजन करते-करते अपनेमें धर्म-जिज्ञासा उत्पन्न करनेकी इच्छा करते हैं, सवाल पूछना सीखना चाहते हैं और जब-जब मुसीबतमें पड़ते हैं, तब-तब अपनी मुसीबत दूर करनेके लिए हम गीताकी शरण जाते हैं और उससे आश्वासन लेते हैं। इसी दृष्टिसे गीता पढ़नी है। वह हमारी सद्गुरुरूप है, मातारूप है और हमें विश्वास रखना चाहिए कि उसकी गोदमें सिर रखकर हम सही-सलामत पार हो जायँगे। गीताके द्वारा अपनी सारी धार्मिक गुत्थियाँ सुलझा लेंगे। इस भाँति नित्य गीताका मनन करनेवालोंको उसमेंसे नित्य नये अर्थ मिलेंगे। ऐसी एक भी धर्मकी उलझन नहीं है कि जिसे गीता न सुलझा सकती हो। हमारी अल्प श्रद्धाके कारण हमें उसका पढ़ना-समझना न आये तो वह दूसरी बात है, पर हम अपनी श्रद्धा नित्य-नित्य बढ़ाते जाने और अपनेको सावधान रखनेके लिए गीताका पारायण करते हैं। इस भाँति गीताका मनन करते हुए जो कुछ अर्थ मुझे उसमेंसे मिला है और आज भी मिलता जाता है, उसका सार आश्रमवासियोंकी सहायताके लिए यहाँ दे रहा हूँ।

यरवदा-जेल **– मो. क. गांधी**

११-११-१९३०

भूमिका

जिस पुस्तकका हम नित्य थोड़ा-थोड़ा करके पारायण और मनन करते हैं, जिसे अपने लिए हमने आध्यात्मिक दीपस्तंभरूप बना रखा है, मैंने उसे जैसा समझा है, उसपर अपने विचार देनेकी इच्छा है। यह खयाल पहले एक पत्र पाकर हुआ था। लेकिन गत सप्ताह भाई के पत्रने मुझे इसके लिए तैयार कर दिया। वह लिखते हैं कि वह 'अनासक्तियोग' पढ़ते हैं, लेकिन समझनेमें बड़ी कठिनाई पड़ती है। सबकी समझमें आने योग्य भाषामें अर्थ करनेका प्रयत्न करते हुए भी, शब्दश: अनुवाद देनेमें समझनेकी कठिनाई तो अवश्य रहेगी। विषय ही जहाँ कठिन हो, वहाँ सरल भाषा क्या कर सकती है? इसलिए अब विषयको ही सरल रीतिसे रखनेका प्रयत्न करना चाहता हूँ। जिस वस्तुका हम उठते-बैठते उपयोग करना चाहते हैं, जिसकी सहायतासे अपनी सारी आंतरिक उलझनें सुलझानेका प्रयत्न करते हैं, उस ग्रंथको जितनी रीतियोंसे जैसे भी समझा जा सके, वैसे समझने और बार-बार उसका मनन करनेसे अन्तमें हम तन्मय हो सकते हैं। मैं तो अपनी सारी कठिनाइयोंमें गीता-माताके पास दौड़ा आता हूँ और अबतक आश्वासन पाता आया हूँ। दूसरोंको भी, जो उसमें आश्वासन पानेके इच्छुक हैं, शायद, जिस रीतिसे मैं उसे रोज- रोज समझता जाता हूँ, वह रीति जानकर, कुछ अधिक मदद मिले। उस रीतिको जानकर उनको कुछ नया प्रकाश पाना भी असंभव नहीं है।

यरवदा-जेल **– मो. क. गांधी**

४-११-१९३०

प्रार्थना

ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति:।।

ईशावास्यम् इदम् सर्वम्

यत् किं च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुज्जीथा (:)

मा गृध: कस्यस्विद् धनम्॥

नाम-माला

ॐ तत् सत् श्री नारायण तू, पुरुषोत्तम गुरु तू।

सिद्ध बुद्ध तू, स्कन्द विनायक, सविता पावक तू।।

ब्रह्म मज्द तू यह्व शक्ति तू, ईशु-पिता प्रभु तू।

रुद्र विष्णु तू, राम कृष्ण तू, रहीम ताओ तू॥

वासुदेव गो विश्वरूप तू, चिदानन्द हरि तू।

अद्वितीय तू, अकाल निर्भय, आत्मलिंग शिव तू॥

एकादश व्रत

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह।

शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन॥

सर्वधर्मसमानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना।

विनम्र व्रतनिष्ठा से ये एकादश सेव्य हैं।।

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे,

परदु:खे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।

सकळ लोकमां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे,

वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन धन जननी तेनी रे।

समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेणे मात रे,

जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।

मोह माया व्यापे नहि जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे,

रामनामशु टाळी लागी, सकळ तीरथ तेना तनमां रे।

वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्‍या रे,

भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करतां, कुल एकोत्तेर तार्या रे।

* * * * *

सुने री मैंने, निर्बल के बल राम।

पिछली साख भरूं संतन की आड़े सँवारे काम।।

जब लग गज बल अपनो बरत्यो नेक सर्यो नहिं काम।

निर्बल ह्वै बल राम पुकार्यो आये आधे नाम॥

द्रुपद-सुता निर्बल भइ ता दिन गहलाय निजधाम।

दु:शासन की भुजा थकित भई, बसन रूप भये श्याम॥

अप-बल, तप-बल और बाहु-बल चौथो है बल दाम।

'सूर' किशोर कृपातें सब बल हारे को हरिनाम॥

.

अनुक्रम

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

बारहवाँ अध्याय

तेरहवाँ अध्याय

चौदहवाँ अध्याय

पन्द्रहवाँ अध्याय

सोलहवाँ अध्याय

सत्रहवाँ अध्याय

अठारहवाँ अध्याय

पहला अध्याय

मंगल-प्रभात

११-११-१९३०

पांडव और कौरवोंके अपनी सेनासहित युद्दके मैदान कुरुक्षेत्रमें एकत्र होनेपर दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास जाकर दोनों दलोंके मुख्य-मुख्य योद्धाओंके बारेमें चर्चा करता है। युद्धकी तैयारी होनेपर दोनों ओरके शंख बजते हैं और अर्जुनके सारथी श्रीकृष्ण भगवान् उसका रथ दोनों सेनाओंके बीचमें लाकर खड़ा करते हैं। अर्जुन घबराता है और श्रीकृष्णसे कहता है कि मैं इन लोगोंसे कैसे लड़ूँ? दूसरे हों तो मैं तुरंत भिड़ सकता हूँ, लेकिन ये तो अपने स्वजन ठहरे। सब चचेरे भाई-बंधु हैं। हम एक साथ पले हैं। कौरव और पांडव कोई दो नहीं हैं। द्रोण केवल कौरवोंके ही आचार्य नहीं हैं, हमें भी उन्होंने सब विद्याएँ सिखायी हैं। भीष्म तो हम सभीके पुरखा हैं। उनके साथ लड़ाई कैसी? माना कि कौरव आततायी हैं, उन्होंने बहुत दुष्ट कर्म किये हैं, अन्याय किये हैं, पांडवोंकी जगह-जायदाद छीन ली है, द्रौपदी जैसी महासतीका अपमान किया है। यह सब उनके दोष अवश्य हैं, पर मैं उन्हें मारकर कहाँ रहूँगा? ये तो मूढ़ हैं, मैं इन-जैसा कैसे बनूँ? मुझे तो कुछ समझ है, सारासारका विवेक है। मुझे यह जानना चाहिए कि अपनोंके साथ लड़नेमें पाप है। चाहे उन्होंने हमारा हिस्सा हजम कर लिया हो, चाहे वे हमें मार ही डालें, तब भी हम उनपर हाथ कैसे उठायें? हे कृष्ण ! मैं तो इन सगे-संबंधियोंसे नहीं लड़ूँगा।

इतना कहते-कहते अर्जुनकी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया और वह अपने रथमें गिर पड़ा।

यह पहले अध्यायका प्रसंग है। इसका नाम 'अर्जुन-विषाद-योग’ है। विषादके मानी दु:खके होते हैं। जैसा दु:ख अर्जुनको हुआ, वैसा हम सबको होना चाहिए। धर्म-वेदना तथा धर्म-जिज्ञासाके बिना ज्ञान नहीं मिलता। जिसके मनमें अच्छे और बुरेका भेद जाननेकी इच्छातक नहीं होती, उसके सामने धर्म-चर्चा कैसी? कुरुक्षेत्रका युद्ध तो निमित्तमात्र है, सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा शरीर है। यही कुरुक्षेत्र है और धर्मक्षेत्र भी। यदि इसे हम ईश्वरका निवास-स्थान समझें और बनायें तो यह धर्मक्षेत्र है। इस क्षेत्रमें कुछ-न-कुछ लड़ाई तो नित्य चलती ही रहती है और ऐसी अधिकांश लड़ाइयाँ 'मेरा'-‘तेरा' को लेकर होती

हैं। अपने-परायेके भेदभावसे पैदा होती हैं। इसीलिए आगे चलकर भगवान् अर्जुनसे कहेंगे कि 'राग', ‘द्वेष’ सारे अधर्मकी जड़ है। जिसे ‘अपना’ माना, उसमें राग पैदा हुआ, जिसे 'पराया' जाना, उसमें द्वेष-वैरभाव आ गया। इसलिए 'मेरे'- ‘तेरे’ का भेद भूलना चाहिए, या यों कहिये कि राग-द्वेषको तजना चाहिए। गीता और सभी धर्म-ग्रंथ पुकार-पुकारकर यही कहते हैं। पर कहना एक बात है और उसके अनुसार करना दूसरी बात। हमें गीता इसके अनुसार करनेकी भी शिक्षा देती है। कैसे, सो आगे समझनेकी कोशिश की जायगी।

दूसरा अध्याय

सोम-प्रभात

१७-११-१९३०

अर्जुनको जब कुछ चेत हुआ तो भगवान् ने उसे उलाहना दिया और कहा कि यह मोह तुझे कहाँसे आ गया? तेरे-जैसे वीर पुरुषको यह शोभा नहीं देता। पर अर्जुनका मोह यों टलनेवाला नहीं था। वह लड़नेसे इनकार करके बोला : "इन सगे-संबंधियों और गुरुजनोंको मारकर, मुझे राजपाट तो दरकिनार, स्वर्गका सुख भी नहीं चाहिए। मैं कर्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ। इस स्थितिमें धर्म क्या है, यह मुझे नहीं सूझता। मैं आपकी शरण हूँ, मुझे धर्म बतलाइये।"

इस भाँति अर्जुनको बहुत व्याकुल और जिज्ञासु देखकर भगवान्‌को दया आयी। वह उसे समझाने लगे : तू व्यर्थ दु:खी होता है और बेसमझे-बूझे ज्ञानकी बातें करता है। जान पड़ता है कि तू देह और देहमें रहनेवाले आत्माका भेद ही भूल गया है। देह मरती है, आत्मा नहीं मरती। देह तो जन्मसे ही नाशवान् है, देहमें जैसी जवानी और बुढ़ापा आता है, वैसे ही उसका नाश भी होता है। देहका नाश होनेपर देहीका नाश कभी नहीं होता। देहका जन्म है, आत्माका जन्म नहीं है। वह तो अजन्मा है। वह बढ़ता-घटता नहीं। वह तो सदैव था, आज है और आगे भी रहनेवाला है। फिर तू काहेका शोक करता है? तेरा शोक तेरे मोहके कारण है। इन कौरव आदिको तू अपना मानता है, इसलिए तुझे ममता हो गयी है, पर तुझे समझना चाहिए कि जिस देहसे तुझे ममता है, वह तो नाशवान् ही है। उसमें रहनेवाले जीवका विचार करनेपर तो तत्काल तेरी समझमें आ जायगा कि उसका नाश तो कोई कर ही नहीं सकता। उसे न अग्नि जला सकती है, न वह पानीमें डूब सकता है, न वायु उसे सुखा सकती है। इसके सिवा, तू अपने धर्मको तो सोच! तू तो क्षत्रिय है। तेरे पीछे यह सेना इकट्ठी हुई है। अब अगर तू कायर बन जाय, तो तू जो चाहता है उससे उलटा नतीजा होगा और तेरी हँसी होगी। आजतक तेरी गिनती बहादुरोंमें हुई है। अब यदि तू अधबीचमें लड़ाई छोड़ देगा तो लोग कहेंगे कि अर्जुन कायर होकर भाग गया। यदि भागनेमें धर्म होता तो लोकनिंदाकी कोई परवाह न थी, पर यहाँ तो यदि तू भागे तो अधर्म होगा और लोकनिंदा उचित समझी जायगी, यह दोहरा दोष होगा।

यह तो मैंने तेरे सामने बुद्धिकी दलील रखी, आत्मा और देहका भेद बताया और तेरे कुलधर्मका तुझे भान कराया, पर अब तुझे मैं कर्मयोगकी बात समझाता हूँ। इस योगपर अमल करनेवालेको कभी नुकसान नहीं होता। इसमें तर्ककी बात नहीं है, आचरणकी है, करके अनुभव पानेकी बात है, और यह तो प्रसिद्ध अनुभव है कि हजारों मन तर्ककी अपेक्षा तोलाभर आचरणकी कीमत अधिक है। इस आचरणमें भी यदि अच्छे-बुरे परिणामका तर्क आ घुसे तो वह दूषित हो जाता है। परिणामके विचारसे ही बुद्धि मलिन हो जाती है। वेदवादी लोग कर्मकांडमें पड़कर अनेक प्रकारके फल पानेकी इच्छासे अनेक क्रियाएँ आरम्भ कर बैठते हैं। एकसे फल न मिलनेपर दूसरीके पीछे दौड़ते हैं। फिर कोई तीसरी बता देता है तो उसके पीछे हैरान होते हैं, और ऐसा करनेमें उनकी मति भ्रममें पड़ जाती है। वास्तवमें मनुष्यका धर्म फलका विचार छोड़कर कर्तव्य-कर्म किये जानेका है! इस समय यह युद्ध तेरा कर्तव्य है, इसे पूरा करना तेरा धर्म है। लाभ-हानि, हार-जीत तेरे हाथमें नहीं है। तू गाड़ीके नीचे चलनेवाले कुत्तेकी भाँति इसका बोझ क्यों ढोता है? हार-जीत, सरदी-गरमी, सुख-दुःख देहके साथ लगे ही हुए हैं, उन्हें मनुष्यको सहना चाहिए। जो भी नतीजा हो, उसके विषयमें निश्चिंत रहकर तथा समता रखकर मनुष्यको अपने कर्तव्यमें तन्मय रहना चाहिए। इसका नाम योग है और इसीमें कर्मकुशलता है। कार्यकी सिद्धि कार्यके करनेमें छिपी है, उसके परिणाममें नहीं। तू स्वस्थ हो, फलका अभिमान छोड़ और कर्तव्यका पालन कर।

यह सुनकर अर्जुन पूछता है : यह तो मेरे बूतेके बाहर जान पड़ता है। हार-जीतका विचार छोड़ना, परिणामका विचार ही न करना, ऐसी समता, ऐसी स्थिरबुद्धि, कैसे आ सकती है? मुझे समझाइये कि ऐसी स्थिर बुद्धिवाले कैसे होते हैं, उन्हें कैसे पहचाना जा सकता है?

तब भगवान् ने जवाब दिया :

हे अर्जुन ! जिस मनुष्यने अपनी कामनामात्रका त्याग किया है और जो अपने अन्तरमें ही संतोष प्राप्त करता है, वह स्थिरचित, स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि या समाधिस्थ कहलाता है। ऐसा मनुष्य न दुःखसे दुःखी होता है, न सुखसे फूल उठता है। सुख-दुःखादि पाँच इन्द्रियोंके विषय हैं। इसलिए ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य कछुएकी भाँति अपनी इन्द्रियोंको समेट लेता है, पर कछुआ तो जब किसी दुश्मनको देखता है, तब अपने अंगोंको ढालके नीचे समेटता है; लेकिन मनुष्यकी इन्द्रियॉंपर तो विषय नित्य चढ़ाई करनेको

खड़े ही हैं, अत: उसे तो हमेशा इन्द्रियोंको समेटे रखना और स्वयं ढालरूप होकर विषयोंके मुकाबलेमें लड़ना है। यह असली युद्ध है। कोई तो विषयोंसे बचनेको देह-दमन करता है, उपवास करता है। यह ठीक है कि उपवास-कालमें इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर नहीं दौड़तीं, पर अकेले उपवाससे रस नहीं सूख जाता। उपवास छोड़नेपर यह तो और भी बढ़ जाता है। रसको दूर करनेके लिए तो ईश्वरका प्रसाद चाहिए। इन्द्रियाँ तो ऐसी बलवान् हैं कि वे मनुष्यको उसके सावधान न रहनेपर जबरदस्ती घसीट ले जाती हैं। इसलिए मनुष्यको इन्द्रियोंको हमेशा अपने वशमें रखना चाहिए। पर यह हो तब सकता है, जब वह ईश्वरका ध्यान धरे, अंतर्मुख हो, हृदयमें रहनेवाले अंतर्यामीको पहचाने और उसकी भक्ति करे। इस प्रकार जो मनुष्य मुझमें परायण रहकर अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखता है, वह स्थिरबुद्धि योगी कहलाता है। इससे विपरीत करनेवालेके हाल भी मुझसे सुन। जिसकी इन्द्रियाँ स्वच्छंदरूपसे बरतती हैं, वह नित्य विषयोंका ध्यान धरता है। तब उसमें उसका मन फँस जाता है। इसके सिवा उसे और कुछ सूझता ही नहीं। ऐसी आसक्तियोंसे काम पैदा होता है। बादको उसकी पूर्ति न होनेपर उसे क्रोध आता है। क्रोधातुर तो बावला-सा हो ही जाता है, आपेमें नहीं रह जाता। अत: स्मृतिभ्रंशके कारण जो-सो बकता और करता है। ऐसे व्यक्तिका अंतमें नाशके सिवा और क्या-होगा? जिसकी इन्द्रियाँ यों भटकती फिरती हैं, उसकी हालत पतवाररहित नावकी-सी हो जाती है। चाहे जो हवा नावको इधर-उधर घसीट ले जाती है और अंतमें किसी चट्टानसे टकराकर नाव चूर हो जाती है। जिसकी इद्धियाँ भटका करती हैं, उसके ये हाल होते हैं। अत: मनुष्यको कामनाओंको छोड़ना और इन्द्रियोंपर काबू रखना चाहिए। इससे इन्द्रियाँ न करने योग्य कार्य नहीं करेंगी, आँखें सीधी रहेंगी, पवित्र वस्तुको ही देखेंगी, कान भगवद्-भजन सुनेंगे, या दु:खीकी आवाज सुनेंगे। हाथ-पाँव सेवा-कार्यमें रुके रहेंगे और ये सब इन्द्रियाँ मनुष्यके कर्तव्य-कार्यमें ही लगी रहेंगी और उसमेंसे उन्हें ईश्वरकी प्रसादी मिलेगी। वह प्रसादी मिली कि सारे दु:ख गये समझो। सूर्यके तेजसे जैसे बर्फ पिघल जाती है, वैसे ईश्वर-प्रसादीके तेजसे दु:खमात्र भाग जाते हैं और ऐसे मनुष्यको स्थिरबुद्धि कहते हैं। पर जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसे अच्छी भावना कहाँसे आयेगी? जिसे अच्छी भावना नहीं, उसे शांति कहाँ? जहाँ शान्ति नहीं, वहाँ सुख कहाँ? स्थिरबुद्धि मनुष्यको जहाँ दीपककी भाँति साफ दिखाई देता है, वहाँ अस्थिर मनवाले दुनियाकी गड़बड़में पड़े रहते हैं और देख ही नहीं सकते, और ऐसी गड़बड़वालोंको जो स्पष्ट लगता है, वह समाधिस्थ योगीको

स्पष्टरूपसे मलिन लगता है और वह उधर नजरतक नहीं डालता। ऐसे योगीकी तो ऐसी स्थिति होती है कि नदी-नालोंका पानी जैसे समुद्रमें समा जाता है, वैसे विषयमात्र इस समुद्ररूप योगीमें समा जाते हैं। और ऐसा मनुष्य समुद्रकी भाँति हमेशा शान्त रहता है। इससे जो मनुष्य सब कामनाएँ तजकर, निरहंकार होकर, ममता छोड़कर, तटस्थरूपसे बरतता है, वह शांति पाता है। यह ईश्वर-प्राप्तिकी स्थिति है और ऐसी स्थिति जिसकी मृत्युतक टिकती है, वह मोक्ष पाता है।

तीसरा अध्याय

सोम-प्रभात

२४-११-१९३०

स्थितप्रज्ञके लक्षण सुनकर अर्जुनको ऐसा लगा कि मनुष्यको शांत होकर बैठ रहना चाहिए। उसके लक्षणोंमें कर्मका तो नामतक भी उसने नहीं सुना। इसलिए भगवान् से पूछा : "आपके वचनोंसे तो लगता है कि कर्मसे ज्ञान बढ़कर है। इससे मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है। यदि ज्ञान अच्छा हो तो फिर मुझे घोर कर्ममें क्यों उतार रहे हैं? मुझे साफ कहिये कि मेरा भला किसमें है?"

तब भगवान् ने उत्तर दिया :

हे पापरहित अर्जुन ! आरंभसे ही इस जगत् में दो मार्ग चलते आये हैं : एकमें ज्ञानकी प्रधानता है और दूसरेमें कर्मकी। पर तू स्वयं देख ले कि कर्मके बिना मनुष्य अकर्मी नहीं हो सकता, बिना कर्मके ज्ञान आता ही नहीं। सब छोड़कर बैठ जानेवाला मनुष्य सिद्धपुरुष नहीं कहला सकता।

तू देखता है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ-न-कुछ तो करता ही है। उसका स्वभाव ही उससे कुछ करायेगा। जगत्का यह नियम होनेपर भी जो मनुष्य हाथ-पाँव ढीले करके बैठा रहता है और मनमें तरह-तरहके मनसूबे करता रहता है, उसे मूर्ख कहेंगे और वह मिथ्याचारी भी गिना जायगा। क्या इससे यह अच्छा नहीं है कि इन्द्रियोंको वशमें रखकर, राग-द्वेष छोड़कर, शोर-गुलके बिना, आसक्तिके बिना अर्थात् अनासक्तभावसे, मनुष्य हाथ-पाँवोंसे कुछ कर्म करे, कर्मयोगका आचरण करे? नियत कर्म—तेरे हिस्सेमें आया हुआ सेवा-कार्य—तू इंद्रियोंको वशमें रखकर करता रह। आलसीकी भाँति बैठे रहनेसे यह कहीं अच्छा है। आलसी होकर बैठे रहनेवालेके शरीरका अंतमें पतन हो जाता है। पर कर्म करते हुए इतना याद रखना चाहिए कि यज्ञ-कार्यके सिवा सारे कर्म लोगोंको बंधनमें रखते हैं। यज्ञके मानी हैं, अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरेके लिए, परोपकारके लिए, किया हुआ श्रम अर्थात् संक्षेपमें 'सेवा', और जहाँ सेवाके निमित्त ही सेवा की जायगी, वहाँ आसक्ति, राग-द्वेष नहीं होगा। ऐसा यज्ञ, ऐसी सेवा, तू करता रह। ब्रह्माने जगत् उपजानेके साथ-ही-साथ यज्ञ भी उपजाया, मानो हमारे कानमें यह मंत्र फुँका कि पृथ्वीपर जाओ, एक-दूसरेकी सेवा करो और फूलो-फलो, जीवमात्रको देवतारूप जानो, इन देवोंकी

सेवा करके तुम उन्हें प्रसन्न रखो, वे तुम्हें प्रसन्न रखेंगे। प्रसन्न हुए देव तुम्हें बिना माँगे मनोवांछित फल देंगे। इसलिए यह समझना चाहिए कि लोक-सेवा किये बिना, उनका हिस्सा उन्हें पहले दिये बिना, जो खाता है, वह चोर है और जो लोगोंका, जीवमात्रका, भाग उन्हें पहुँचानेके बाद खाता है या कुछ भोगता है, उसे वह भोगनेका अधिकार है अर्थात् वह पापमुक्त हो जाता है। इससे उलटा, जो अपने लिए ही कमाता है - मजदूरी करता है - वह पापी है और पापका अन्न खाता है। सृष्टिका नियम ही यह है कि अन्नसे जीवोंका निर्वाह होता है। अन्न वर्षासे पैदा होता है और वर्षा यज्ञसे अर्थात् जीवमात्रकी मेहनतसे उत्पन्न होती है। जहाँ जीव नहीं हैं वहाँ वर्षा नहीं पायी जाती; जहाँ जीव हैं वहाँ वर्षा अवश्य है। जीवमात्र श्रमजीवी हैं। कोई पड़े-पड़े खा नहीं सकता और मूढ़ जीवोंके लिए जब यह सत्य है, तो मनुष्यके लिए यह कितने अधिक अंशमें लागू होना चाहिए? इससे भगवान् ने कहा, कर्मको ब्रह्माने पैदा किया। ब्रह्माकी उत्पत्ति अक्षर-ब्रह्मसे हुई, इसलिए यह समझना चाहिए कि यज्ञमात्रमें - सेवामात्रमें - अक्षरब्रह्म, परमेश्वर, विराजता है। ऐसी इस प्रणालीका जो मनुष्य अनुसरण नहीं करता, वह पापी है और व्यर्थ जीता है।

मंगल-प्रभात

यह कह सकते हैं कि जो मनुष्य आंतरिक शांति भोगता है और संतुष्ट रहता है, उसे कोई कर्तव्य नहीं है, उसे कर्म करनेसे कोई फायदा नहीं, न करनेसे हानि नहीं है। किसीके संबंधमें कोई स्वार्थ उसे न होनेपर भी यज्ञकार्यको वह छोड़ नहीं सकता। इससे तू तो कर्तव्य-कर्म नित्य करता रह, पर उसमें राग-द्वेष न रख, उसमें आसक्ति न रख। जो अनासक्तिपूर्वक कर्मका आचरण करता है, वह ईश्वर-साक्षात्कार करता है। फिर जनक-जैसे निःस्पृही राजा भी कर्म करते-करते सिद्धिको प्राप्त हुए, क्योंकि वे लोकहितके लिए कर्म करते थे। तो तू कैसे इससे विपरीत बर्ताव कर सकता है? नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बड़े माने जानेवाले मनुष्य आचरण करते हैं, उसका अनुकरण साधारण लोग करते हैं। मुझे देख। मुझे काम करके क्या स्वार्थ साधना था? पर मैं चौबीसों घंटा, बिना थके, कर्म करता ही रहता हूँ और इससे लोग भी उसके अनुसार अल्पाधिक प्रमाणमें बरतते हैं। पर यदि मैं आलस्य कर जाऊँ तो जगत्का क्या हो? तू समझ सकता है कि सूर्य, चंद्र, तारे इत्यादि स्थिर हो जायँ तो जगत्का नाश हो जाय और इन सबको गति देनेवाला, नियममें रखनेवाला तो मैं ही ठहरा। किंतु लोगोंमें और मुझमें इतना फरक जरूर है कि मुझे आसक्ति नहीं है, लोग आसक्त हैं, वे स्वार्थमें पड़े भागते रहते हैं। यदि तुझ-जैसा

बुद्धिमान् कर्म छोड़े तो लोग भी वही करेंगे और बुद्धि-भ्रष्ट हो जायँगे। तुझे तो आसक्तिरहित होकर कर्तव्य करना चाहिए, जिससे लोग कर्म-भ्रष्ट न हों और धीरे-धीरे अनासक्त होना सीखें। मनुष्य अपनेमें मौजूद स्वाभाविक गुणोंके वश होकर काम तो करता ही रहेगा। जो मूर्ख होता है, वही मानता है कि 'मैं करता हूँ'। साँस लेना, यह जीवमात्रकी प्रकृति है, स्वभाव है। आँखपर किसी मक्खी आदिके बैठते ही तुरंत मनुष्य स्वभावत: ही पलकें हिलाता है। उस समय नहीं कहता कि मैं साँस लेता हूँ, मैं पलक हिलाता हूँ। इस तरह जितने कर्म किये जायँ, सब स्वाभाविक रीतिके गुणके अनुसार क्यों न किये जायँ? उनके लिए अहंकार क्या? और यों ममत्वरहित सहज कर्म करनेका सुवर्ण मार्ग है, सब कर्म मुझे अर्पण करना और ममत्व हटाकर मेरे निमित्त करना। ऐसा करते-करते जब मनुष्यमेंसे अहंकारवृत्तिका, स्वार्थका, नाश हो जाता है, तब उसके सारे कर्म स्वाभाविक और निर्दोष हो जाते हैं। वह बहुत जंजालमेंसे छूट जाता है। उसके लिए फिर कर्म-बंधन जैसा कुछ नहीं है और जहाँ स्वभावके अनुसार कर्म हो, वहाँ बलात्कारसे न करनेका दावा करनेमें ही अहंकार समाया हुआ है। ऐसा बलात्कार करनेवाला बाहरसे चाहे कर्म न करता जान पड़े, पर भीतर-भीतर तो उसका मन प्रपंच रचता ही रहता है। बाहरी कर्मकी अपेक्षा यह बुरा है, अधिक बंधनकारक है।

तो, वास्तवमें तो इंद्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें राग-द्वेष विद्यमान ही है। कानोंको यह सुनना रुचता है, वह सुनना नहीं; नाकको गुलाबके फूलकी सुगंधि भाती है, मल वगैरहकी दुर्गन्धि नहीं। सभी इंद्रियोंके संबंधमें यही बात है। इसलिए मनुष्यको इन राग-द्वेषरूपी दो ठगोंसे बचना चाहिए और इन्हें मार भगाना हो तो कर्मोंकी श्रृंखलामें न पड़े। आज यह किया, कल दूसरा काम हाथमें लिया, परसों तीसरा, यों भटकता न फिरे, बल्कि अपने हिस्सेमें जो सेवा आ जाय, उसे ईश्वरप्रीत्यर्थ करनेको तैयार रहे। तब यह भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं वह ईश्वर ही कराता है—यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहंभाव चला जायगा। इसे स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्मसे चिपटे रहना चाहिए, क्योंकि अपने लिए तो वही अच्छा है। देखनेमें परधर्म अच्छा दिखायी दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिए। स्वधर्मपर चलते हुए मृत्यु होनेमें मोक्ष है।

भगवान् के राग-द्वेषरहित होकर किये जानेवाले कर्मको यज्ञरूप बतलानेपर अर्जुनने पूछा : “मनुष्य किसकी प्रेरणासे पापकर्म करता है? अक्सर तो ऐसा लगता है कि पापकर्मकी ओर कोई उसे जबर्दस्ती ढकेल ले जाता है।“

भगवान् बोले : “मनुष्यको पापकर्मकी ओर ढकेल ले जानेवाला काम है और क्रोध है। दोनों सगे भाईकी भाँति हैं, कामकी पूर्तिके पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम-क्रोधवाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्यके महान् शत्रु ये ही हैं। इनसे नित्य लड़ना है। जैसे मैल चढ़नेसे दर्पण धुँधला हो जाता है, या अग्नि धुएँके कारण ठीक नहीं जल पाती और गर्भ झिल्लीमें पड़े रहनेतक घुटता रहता है, उसी प्रकार काम-क्रोध ज्ञानीके ज्ञानको प्रज्वलित नहीं होने देते, फीका कर देते हैं, या दबा देते हैं। काम अग्निके समान विकराल है और इंद्रिय, मन, बुद्धि, सबपर अपना काबू करके मनुष्यको पछाड़ देता है। इसलिए तू इंद्रियोंसे पहले निपट, फिर मनको जीत, तो बुद्धि तेरे अधीन रहेगी, क्योंकि इंद्रियाँ, मन और बुद्धि यद्यपि क्रमश: एक-दूसरेसे बढ़-चढ़कर हैं, तथापि आत्मा उन सबसे बहुत बढ़ा-चढ़ा है। मनुष्यको आत्माकी अपनी शक्तिका पता नहीं है, इसीलिए वह मानता है कि इंद्रियाँ वशमें नहीं रहतीं, मन वशमें नहीं रहता या बुद्धि काम नहीं करती। आत्माकी शक्तिका विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है। इंद्रियोंको, मन और बुद्धिको ठिकाने रखनेवालेका काम, क्रोध या उनकी असंख्य सेना कुछ नहीं कर सकती।“

इस अध्यायको मैंने गीता समझनेकी कुंजी कहा है। एक वाक्यमें उसका सार यह जान पड़ता है कि जीवन सेवाके लिए है, भोगके लिए नहीं है। अत: हमें जीवनको यज्ञमय बना डालना उचित है, पर इतना जान लेनेभरसे वैसा हो जाना संभव नहीं हो जाता। जानकर आचरण करनेपर हम उत्तरोत्तर शुद्ध होते जायँगे। पर सच्ची सेवा क्या है, यह जाननेको इंद्रिय-दमन आवश्यक है। इस प्रकार उत्तरोत्तर हम सत्यरूपी परमात्माके निकट होते जाते हैं। युग-युगमें हमें सत्यकी अधिक झाँकी होती है। स्वार्थ-दृष्टिसे होनेवाला सेवा-कार्य यज्ञ नहीं रह जाता। अत: अनासक्तिकी बड़ी आवश्यकता है। इतना जाननेपर हमें इधर-उधरके वाद-विवादमें नहीं उलझना पड़ता। भगवान् ने अर्जुनको क्या सचमुच ही स्वजनोंको मारनेकी शिक्षा दी? क्या उसमें धर्म था? ऐसे प्रश्न आते रहते हैं। अनासक्ति आनेपर योंही हमारे हाथमें किसीको मारनेको छुरी हो तो वह भी छूट जाती है, पर अनासक्तिका ढोंग करनेसे वह नहीं आती। हमारे

प्रयत्नपर वह आज आ सकती है अथवा, संभव है, हजारों वर्षतक प्रयत्न करते रहनेपर भी न आये। इसकी भी फिकर छोड़ देनी चाहिए। प्रयत्नमें ही सफलता है। यह हमें सूक्ष्मतासे जाँचते रहना चाहिए कि प्रयत्न वास्तवमें हो रहा है या नहीं। इसमें आत्माको धोखा नहीं देना चाहिए और इतना ध्यान रखना तो सभीके लिए संभव है।

चौथा अध्याय

सोम-प्रभात

१-१२-१९३०

भगवान् ने अर्जुनसे कहा कि मैंने जो निष्काम कर्मयोग तुझे बतलाया है, वह बहुत प्राचीनकालसे चला आता है, यह नया नहीं है। तू प्रिय भक्त है इसलिए, और इस समय धर्म-संकटमें है इसलिए, उसमेंसे मुक्त करनेके लिए, मैंने तेरे सामने इसे रखा है। जब-जब धर्मकी निंदा होती है और अधर्म फैलता है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ और भक्तोंकी रक्षा करता हूँ, पापीका संहार करता हूँ। मेरी इस मायाको जो जाननेवाला है, वह विश्वास रखता है कि अधर्मका लोप अवश्य होगा, साधु पुरुषका रक्षक ईश्वर है। ऐसे मनुष्य धर्मका त्याग नहीं करते और अंतमें मुझे पाते हैं, क्योंकि वे मेरा ध्यान धरनेवाले, मेरा आश्रय लेनेवाले होनेके कारण काम-क्रोधादिसे मुक्त रहते हैं और तप तथा ज्ञानसे शुद्ध हुए रहते हैं। मनुष्य जैसा करता है, वैसा फल पाता है। मेरे नियमोंसे बाहर कोई रह नहीं सकता । गुण-कर्म-भेदसे मैंने चार वर्ण पैदा किये हैं, फिर भी मुझे उनका कर्ता मत समझ, क्योंकि मुझे इस कर्ममेंसे किसी फलकी आकांक्षा नहीं है, न इसका पाप-पुण्य मुझे होता है। यह ईश्वरी माया समझने योग्य है। जगत्में जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, सब ईश्वरी नियमोंके अधीन होती हैं, फिर भी ईश्वर उनसे अलिप्त रहता है, इसलिए वह उनका कर्ता है और अकर्ता भी। यों अलिप्त रहकर, अछूते रहकर, फलेच्छासे रहित होकर जैसे ईश्वर चलता है, वैसे मनुष्य भी निष्काम रहकर चले तो अवश्य मोक्ष पा जाय। ऐसा मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और ऐसे मनुष्यको न करने योग्य कर्मका भी तुरंत पता चल जाता है। कामनासे सम्बद्ध कर्म, जो कामनाके बिना हो ही नहीं सकते, वे सब न करने योग्य कर्म कहलाते हैं - उदाहरणके लिए, चोरी, व्यभिचार इत्यादि। ऐसे कर्म कोई अलिप्त रहकर नहीं कर सकता। इसलिए जो कामना और संकल्प छोड़कर कर्तव्य-कर्म करता है, उसके बारेमें कहा जाता है कि उसने अपने ज्ञानरूपी अग्निद्वारा अपने कर्मोंको जला डाला है। यों कर्मफलका संग छोड़नेवाला मनुष्य सदा संतुष्ट रहता है, सदा स्वतंत्र होता है। उसका मन ठिकाने होता है, वह किसी संग्रहमें नहीं पड़ता और जैसे आरोग्यवान् पुरुषकी शारीरिक क्रियाएँ अपने-आप चलती रहती हैं उसी प्रकार ऐसे मनुष्यकी प्रवृत्तियाँ अपने-आप चला करती हैं। उनके अपने चलानेका उसे अभिमान नहीं होता, भानतक नहीं होता। वह स्वयं निमित्तमात्र रहता है - सफलता मिली तो भी

'वाह-वाह', न मिली तो भी। सफलतासे वह फूल नहीं उठता, विफलतासे घबराता नहीं। उसके सब कर्म यज्ञरूप सेवाके लिए, होते हैं। वह सारी क्रियाओंमें ईश्वरको ही देखता है और अंतमे उसीको पाता है।

यज्ञ तो अनेक प्रकारके कहे गये हैं। उन सबके मूलमें शुद्धि और सेवा होती है। इंद्रिय-दमन एक प्रकारका यज्ञ है, किसीको दान देना दूसरी प्रकारका। प्राणायामादि भी शुद्धिके लिए आरंभ किये जानेवाले यज्ञ हैं। इनका ज्ञान किसी ज्ञाता गुरुसे प्राप्त किया जा सकता है। वह मिलाप, विनय, लगन और सेवासे ही संभव है। यदि सब लोग बिना समझे-बूझे यज्ञके नामपर अनेक प्रवृत्तियाँ करने लग जायाँ तो अज्ञानके निमित्त होनेके कारण, भलेके बदले बुरा नतीजा भी हो सकता है। इसलिए हरएक कामके ज्ञानपूर्वक होनेकी पूरी आवश्यकता है।

यहाँ ज्ञानसे मतलब अक्षर-ज्ञान नहीं है। इस ज्ञानमें शंकाकी कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। उसका श्रद्धासे आरंभ होता है और अंतमें उसका अनुभव आता है। ऐसे ज्ञानसे मनुष्य सब जीवोंको अपनेमें देखता है और अपनेको ईश्वरमें देखता है। यहाँतक कि यह सब प्रत्यक्षकी भाँति उसे ईश्वरमय लगता है। ऐसा ज्ञान पापी-से-पापीको भी तार देता है। यह ज्ञान कर्मबंधनमेंसे मनुष्यको मुक्त करता है, अर्थात् कर्मका फल उसे स्पर्श नहीं करता। इसके समान पवित्र इस जगत् में दूसरा कुछ नहीं है। इसलिए तू श्रद्धा रखकर, ईश्वरपरायण होकर, इंद्रियोंको वशमें रखकर ऐसा ज्ञान पानेका प्रयत्न कर, उससे तुझे परम शांति मिलेगी।

तीसरा, चौथा और पाँचवाँ अध्याय, तीनों एक साथ मनन करने योग्य हैं। उनमेंसे अनासक्तियोग क्या है, इसका अनुमान हो जाता है। इस अनासक्ति - निष्कामतासे मिलनेका उपाय भी उनमें थोड़े-बहुत अंशमें बतलाया गया है। इन तीनों अध्यायोंको यथार्थ रूपसे समझ लेनेपर आगेके अध्यायोंमें कम कठिनाई पड़ेगी। आगेके अध्यायमें हमें अनासक्ति-प्राप्तिके साधनकी अनेक रीतियाँ बतलाते हैं। हमें इस दृष्टिसे गीताका अध्ययन करना चाहिए, इससे अपनी नित्य पैदा होनेवाली समस्याओंको हम गीताद्वारा बिना परिश्रमके हल कर सकेंगे। यह नित्यके अभ्याससे संभव होनेवाली वस्तु है। सबको आजमाकर देखनी चाहिए। क्रोध आया कि तुरंत उससे सम्बद्ध श्लोकका स्मरण करके उसे शांत करना चाहिए। किसीका द्वेष हो, अधीरता आये, आहारैषणा आये, किसी कामको करने या न करनेका संकट

आये तो ऐसे सब प्रश्नोंका निपटारा, श्रद्धा हो और नित्य मनन हो तो, गीता-मातासे कराया जा सकता है। इसके लिए नित्यका यह पारायण है और तदर्थ यह प्रयत्न है।

यज्ञ-१

मंगल-प्रभात

२१-१०-१९३०

हम यज्ञ शब्दका व्यवहार बार-बार करते हैं। हमने नित्यका महायज्ञ भी रचा है। इसलिए यज्ञ शब्दका विचार कर लेना जरूरी है। इस लोकमें या परलोकमें कुछ भी बदला लिये या चाहे बिना, परार्थके लिए किये हुए किसी भी कर्मको यज्ञ कहेंगे। कर्म कायिक हो या मानसिक, चाहे वाचिक, कर्मका विशाल-से-विशाल अर्थ लेना चाहिए। 'परार्थके लिए' का मतलब केवल मनुष्य-वर्ग नहीं, बल्कि जीवमात्र लेना चाहिए और अहिंसाकी दृष्टिसे भी, मनुष्य-जातिकी सेवाके लिए भी, दूसरे जीवोंका होमना या उनका नाश करना यज्ञकी गिनतीमें नहीं आ सकता। वेदादिमें अश्व, गाय इत्यादिको होमनेकी जो बात आती है, उसे हमने गलत माना है। वहाँ पशुहिंसाका अर्थ लें तो सत्य और अहिंसाकी तराजूपर ऐसे होम नहीं चढ़ सकते, इतनेसे हमने संतोष मान लिया है। जो वचन धर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं, उनका ऐतिहासिक अर्थ करनेमें हम नहीं फँसते और वैसे अर्थोंके अन्वेषणकी अपनी अयोग्यता हम स्वीकार करते हैं। उस योग्यताकी प्राप्तिका प्रयत्न भी हम नहीं करते, क्योंकि ऐतिहासिक अर्थसे जीवहिंसा संगत भी ठहरे तो भी अहिंसाको सर्वोपरि धर्म माननेके कारण हमारे लिए उस अर्थको रुचनेवाला आचार त्याज्य है।

उक्त व्याख्याके अनुसार विचारनेपर हम देख सकते हैं कि जिस कर्ममें अधिक-से-अधिक जीवोंका, अधिक-से-अधिक क्षेत्रमें, कल्याण हो और जो कर्म अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिक-से-अधिक सरलतासे कर सकें, और जिसमें अधिक-से-अधिक सेवा होती हो, वह महायज्ञ है या अच्छा यज्ञ है। अत: किसीकी भी सेवाके निमित्त अन्य किसीका कल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नहीं है और यज्ञके अलावा किया हुआ कार्य बन्धनरूप है, यह हमें भगवद्गीता और अनुभव भी सिखाता है।

ऐसे यज्ञके बिना यह जग क्षणभर भी नहीं टिक सकता, इसीलिए गीताकारने ज्ञानकी कुछ झलक दूसरे अध्यायमें दिखाकर तीसरे अध्यायमें उसकी प्राप्तिके साधनमें प्रवेश कराया है और साफ शब्दोंमें

कहा है कि हम यज्ञको जन्मसे ही साथ लाये हैं। यहाँतक कि हमें यह शरीर केवल परमार्थके लिए मिला है और इसलिए यज्ञ किये बिना जो खाता है, वह चोरीका खाता है, ऐसी सख्त बात गीताकारने कह डाली। जो शुद्ध जीवन बिताना चाहता है, उसके सब काम यज्ञरूप होते हैं। हमारे यज्ञसहित जन्मनेका मतलब है कि हम हरदमके ऋणी या देनदार हैं। इसलिए हम जगके सदाके गुलाम हैं और जैसे स्वामी गुलामको सेवाके बदलेमें खाना-कपड़ा आदि देता है, वैसे हमें जगत्का स्वामी हमसे गुलामी लेनेके लिए जो अन्न-वस्त्रादि देता है, वह कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि जो मिलता है, उतनेका भी हमें हक है, न मिलनेपर मालिकको दोष न दें। यह देह उसकी है, जी चाहे इसे रखे, या न रखे। यह स्थिति दुःखद नहीं है, न दयनीय है। यदि हम अपना स्थान समझ लें तो यह स्वाभाविक है और इसलिए सुखद और चाहने योग्य है। ऐसे परम सुखके अनुभवके लिए अचल श्रद्धा तो अवश्य चाहिए। अपने लिए कोई चिंता न करना, सब परमेश्वरको सौंप देना, ऐसा आदेश मैंने तो सब धर्मोंमें पाया है।

पर इस वचनसे किसीको डरना नहीं चाहिए। मनको स्वच्छ रखकर सेवाका आरंभ करनेवालेको उसकी आवश्यकता दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होती जाती है और वैसे ही उसकी श्रद्धा बढ़ती जाती है। जो स्वार्थ छोड़नेको तैयार ही नहीं है, अपनी जन्मकी स्थितिको पहचाननेको ही तैयार नहीं, उसके लिए तो सेवाके सब मार्ग मुश्किल हैं। उसकी सेवामें तो स्वार्थकी गंध आती ही रहेगी, पर ऐसे स्वार्थी जगत्में कम ही मिलेंगे। कुछ-न-कुछ निःस्वार्थ सेवा हम सब जाने-अनजाने करते ही रहते हैं। यही चीज विचारपूर्वक करने लगनेसे हमारी पारमार्थिक सेवाकी वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहेगी। उसमें हमारा सच्चा सुख है और जगत्का कल्याण है।

यज्ञ-२

मंगल-प्रभात

२८-१०-१९३०

यज्ञके विषयमें पिछले सप्ताह लिखकर भी इच्छा पूरी नहीं हुई। जिस चीजको जन्मके साथ लेकर हमने इस संसारमें प्रवेश किया है, उसके बारेमें कुछ अधिक विचार करना व्यर्थ न होगा। यज्ञ नित्य-कर्तव्य है, चौबीसों घंटे आचरणमें लानेकी वस्तु है, इस विचारसे और यज्ञका अर्थ सेवा समझकर 'परोपकाराय सतां विभूतय:' वचन कहा गया है। निष्काम सेवा परोपकार नहीं है, बल्कि अपने निजके

ऊपर उपकार है। जैसे कर्ज चुकाना परोपकार नहीं, बल्कि अपनी सेवा है, अपने ऊपर उपकार है, अपने ऊपरसे भार उतारना है, अपने धर्मको बचाना है। फिर कोई संतकी ही पूँजी 'परोपकारार्थ—अधिक सुन्दर भाषामें कहिये तो—'सेवार्थ' हो, सो नहीं है, बल्कि मनुष्यमात्रकी पूँजी सेवार्थ है और यह होनेपर सारे जीवनमें भोगका खातमा हो जाता है, जीवन त्यागमय हो जाता है। या यों कहें कि मनुष्यका त्याग ही उसका भोग है। पशु और मनुष्यके जीवनमें यह भेद है। जीवनका यह अर्थ जीवनको शुष्क बना देता है, इससे कलाका नाश हो जाता है, अनेक लोग यह आरोप करके उक्त विचारको सदोष समझते हैं, पर मेरे खयालमें ऐसा कहना त्यागका अनर्थ करना है। त्यागके मानी संसारसे भागकर जंगलमें जा बसना नहीं है, बल्कि जीवनकी प्रवृत्तिमात्रमें त्यागका होना है। गृहस्थ-जीवन त्यागी और भोगी दोनों हो सकता है। मोचीका जूते सीना, किसानका खेती करना, व्यापारीका व्यापार करना और नाईका हजामत बनाना त्याग-भावनासे हो सकता है या उसमें भोगकी लालसा हो सकती है। जो यज्ञार्थ व्यापार करता है, वह करोड़ोंके व्यापारमें भी लोकसेवाका ही खयाल रखेगा, किसीको धोखा नहीं देगा, अकरणीय साहस नहीं करेगा, करोड़ोंकी सम्पत्ति रखते हुए भी सादगीसे रहेगा, करोड़ों कमाते हुए भी किसीकी हानि नहीं करेगा। किसीकी हानि होती होगी तो करोड़ोंसे हाथ धो लेगा। कोई इस खयालसे न हँसे कि ऐसा व्यापारी मेरी कल्पनामें बसता है। संसारके सौभाग्यसे ऐसे व्यापारी पश्चिम और पूर्व दोनोंमें हैं। हों चाहे अँगुलियोंपर ही गिननेभरको, पर एक भी जीवित उदाहरण रखनेपर उसे फिर कल्पनाकी वस्तु नहीं कह सकते। ऐसे दरजीको हमने बढ़वाणमें ही देखा है। ऐसे एक नाईको मैं जानता हूँ और ऐसे बुनकरको हम लोगोंमेंसे* कौन नहीं जानता? देखने-ढूँढ़नेपर हम सब धंधोंमें केवल यज्ञार्थ अपना धंधा करने और तदर्थ जीवन बितानेवाले आदमी पा सकते हैं। यह अवश्य है कि ऐसे याज्ञिक अपने धंधेसे अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। पर वे धंधा आजीविकाके निमित्त नहीं करते, आजीविका उनके लिए उस धंधेका गौण फल है। मोतीलाल पहले भी दर्जीका धंधा करता था और ज्ञान होनेके बाद भी दर्जी बना रहा। भावना बदल जानेसे उसका धंधा यज्ञरूप बन गया, उसमें पवित्रता आ गयी और पेशेमें दूसरेके सुखका विचार दाखिल हो गया। उसी समय उसके जीवनमें कलाका प्रवेश हो गया। यज्ञमय जीवन कलाकी पराकाष्ठा है, सच्चा रस उसीमें है, क्योंकि उसमेंसे रसके नित्य नये झरने प्रकट होते हैं। मनुष्य उन्हें पीकर अघाता नहीं है, न वे झरने कभी सूखते हैं। यज्ञ यदि भाररूप जान पड़े तो यज्ञ नहीं है, जो

अखरे वह त्याग नहीं है। भोगका अंत नाश है, त्यागका अन्त अमरता। रस स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, रस तो हमारी वृत्तिमें मौजूद है। एकको नाटकके पर्दोंमें मजा आता है, अन्यको आकाशमें नित्य नये-नये प्रकट होनेवाले दृश्योंमें। रस परिशीलन-का विषय है। जो रसरूपसे बचपनमें सिखाया जाता है, जिसे रसके नामसे जनतामें प्रवेश कराया जाता है, वह रस माना जाता है। हम ऐसे उदाहरण पा सकते हैं कि जिनमें एक प्रजाको रसमय लगनेवाली चीज दूसरी प्रजाको रसहीन लगती है।

यज्ञ करनेवाले अनेक सेवक मानते हैं कि हम निष्काम भावसे सेवा करते हैं, अत: लोगोंसे आवश्यकताभरको और अनावश्यक भी, लेनेका हमें परवाना मिल गया है। जहाँ किसी सेवकके मनमें यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गयी, सरदारी आयी। सेवामें अपनी सुविधाके विचारकी गुंजाइश ही नहीं होती है। सेवककी सुविधा स्वामी - ईश्वर - देखे, देनी होगी तो वह देगा। यह खयाल रखते हुए सेवकको चाहिए कि जो कुछ आ जाय, सबको न अपना बैठे। आवश्यकताभरको ही ले, बाकीका त्याग करे। अपनी सुविधाकी रक्षा न होनेपर भी शांत रहे, रोष न करे, मनमें भी खिन्नता न लाये। याज्ञिकका बदला, सेवककी मजदूरी, यज्ञ - सेवा ही है। उसीमें उसका संतोष है।

सेवा-कार्यमें बंगार भी नहीं काटी जाती। उसे अंतके लिए नहीं छोड़ा जाता। अपना काम तो सँवारे, लेकिन पराया, बिना पैसेके करना है, इस खयालसे जैसा-तैसा या जब चाहे तब करनेमें भी हर्ज न समझनेवाला, यज्ञका ककहरा भी नहीं जानता। सेवामें तो सोलहों सिंगार भरने पड़ते हैं, अपनी सारी कला उसमें खर्च कर देनी पड़ती है। पहले यह, फिर अपनी सेवा। मतलब यह कि शुद्ध यज्ञ करनेवालेके लिए अपना कुछ नहीं है। उसने सब 'कृष्णार्पण' कर दिया है।

*यानी आश्रमवासियोंमेंसे।

यज्ञ-३

(व्यक्तिगत पत्रोंमेंसे)

१३-११-१९३०

चरखे और फ्रेंचके विषयमें तुमने जो लिखा है, उसमें भी सिद्धान्त-दृष्टिसे त्रुटि पाता हूँ। चरखेको सर्वार्पण करनेपर उस समयको दूसरे काममें नहीं लगाया जा सकता। कोई बात करने आ जाय तो

विवेकके खयालसे कर सकते हैं, पर बातोंके बजाय कुछ सीखा ही जाय तो उसमें क्या बुराई है, यह न्याय यहाँ नहीं लग सकता। बातोंमेंसे तो जब चाहे छुट्टी पायी जा सकती है। बात करनेवाला भी बहुत देरतक बैठकर बातें नहीं करेगा। पर शिक्षक बन जानेपर तो वह पूरा समय देनेको मजबूर हो जाता है। यह सब तबके लिए है, जब कि चरखेको यज्ञरूपमें चलाते हों। अपने विषयमें मैं इस सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ। चरखा चलाते समय जब अन्य विचारोंमें पड़ता हूँ, तब गतिपर, नंबरपर, समानतापर उसका असर पड़ता है। कल्पना करो कि रोम्यां रोलां या बिथोवन पियानोपर बैठें हैं। उसपर वे ऐसे तन्मय हो जाते हैं कि बात नहीं कर सकते, न मनमें अन्य विचार कर सकते हैं। कला और कलाकार पृथक् नहीं होते। यदि यह पियानोके लिए सत्य हो तो फिर चरखायज्ञके लिए कितना अधिक सत्य होना चाहिए? यह विचार जाने दो कि यह आचरण आज ही संभव नहीं है। अपने विचारक्षेत्रको बावन तोला पाव रत्ती शुद्ध रख सकें तो तदनुसार आचरण किसी दिन हो ही जायगा। यह न समझो कि इसमें गुजरे हुओंकी आलोचना है। मैं खुद बहुत अधूरा हूँ, मुझे आलोचना करनेका हक भी कहाँ है? जितना जानता हूँ, उसपर मैं खुद कहाँ पूरी तरह चलता हूँ? चलता होता तो कबका चरखा सात लाख गाँवोंमें गूँज जाता। आज भी जो जानता हूँ, उसके अनुसार सौ फीसदी चल सकूँ तो मेरे यहाँ बैठे भी चरखा हवाकी तरह फैले। पर यदि मालवीयजी भागवत पुराणकी चर्चासे थकें तो मैं चरखा-संगीतकी बातोंसे थकूँ। चरखा-पुराण तो कैसे कहूँ? पुराण तो भविष्यकी पीढ़ी रचेगी, बशर्ते कि हम कुछ रचने लायक कर जायँगे। आज तो हम इसका टूटा-फूटा संगीत रच रहे हैं। अंतमें उसमें कैसा सुर निकलता है, यह हमारी तपश्चर्या और हमारे समर्पणपर निर्भर रहेगा।

...मुझे आदर्श तो यह लगता है कि यज्ञके समय मौन हो। उस समय जो विचार हो, वह चरखे, या कहो खादीसंबंधी अथवा राम-नामका हो। राम-नामको विस्तृत अर्थमें लेना चाहिए। वास्तवमें तो राम-नाम जाने-अनजाने हमेशा ही होना चाहिए, जैसे संगीतमें तंबूरा। पर हाथ जो काम करते हों, उसमें हम एक-ध्यान न हों तो राम-नामका इच्छापूर्वक रटन होना चाहिए। चरखा चलाते हुए हम बातें करें, कुछ सुनें या और कुछ करें तो यह क्रिया यज्ञ तो नहीं होगी। यदि यह यज्ञ कर्तव्य है तो उतने समयके लिए उसमें लीन हो जाना चाहिए। जिसका सारा जीवन यज्ञरूप है और जो अनासक्त है, वह एक समयमें एक ही काम करेगा। इतना जानते हुए भी (अल्पा-धिक प्रमाणमें) मैं ही पहला पापी ठहरता हूँ, क्योंकि

कह सकते हैं कि मैंने किसी दिन चुपचाप एकांतमें बैठकर अर्थात् मौन धरकर नहीं काता। मौनवारके दिन कातते-कातते डाक सुनता या किसीकी कोई बात सुननी होती तो वह सुनता। यह कुटेव यहाँ भी नहीं गयी। इसलिए कोई ताज्जुब नहीं कि कातनेमें बहुत नियमित होते हुए भी मैं सुस्त रह गया और घंटमें मुश्किलसे २०० तारतक अब पहुँचा हूँ! और भी अनेक दोष अपनेमें पाता हूँ, जैसे तार टूटना, माल बनाना न जानना, चमरखका अल्पज्ञान, रुईकी किस्म न पहचानना, समानता वगैरह पूरी तरहसे न निकाल सकना, तारकी परख न कर सकना इत्यादि। क्या यह सब किसी याज्ञिकको शोभा देता है? फिर खादीकी गति धीमी रह गयी तो इसमें कया आश्चर्य है? यदि दरिद्रनारयण है और उसके होनेमें कोई शक नहीं है, और यदि उसकी प्रसादी खादी है, और यह कहनेवाला, जाननेवाला जो कुछ कहो वह मैं हूँ, फिर भी मेरा अमल कितना ढीला-ढाला है। इसलिए इस विषयमें किसी औरको दोषी ठहरानेका जी नहीं चाहता है। मैं तो सिर्फ तुम्हें अपने दोषका, दु:खका और उसमेंसे उत्पन्न होनेवाले खयालका और ज्ञानका दर्शन कराना चाहता हूँ। यद्यपि काकाके साथ यदा-कदा ऐसी बातें हुईं हैं, तथापि इतनी स्पष्टतासे तो यही पहले-पहल तुमसे कर रहा हूँ और यह स्पष्टता भी आयी तुम्हारे उस फ्रेंचको चरखेके साथ जोड़नेके कारण। तुमने जो किया, उसमें मैं तुम्हारा तनिक भी दोष नहीं पाता। मैं देख रहा हूँ कि चरखेका कैसा कच्चा 'मंत्रा' हूँ मैं। मंत्रको तो जाना, पर उसकी पूरी विधि आचारमें नहीं उतारी, इसलिए मंत्र अपनी पूरी शक्ति नहीं प्रकट कर सका। चरखेकी भाँति ही इस बातको सारे जीवनपर घटाकर देखो तो कल्पनामें तो तुम्हें जीवनकी अद्भुत शांतिका अनुभव होगा और सफलताका भी। 'योग: कर्मसु कौशलम्' का तात्पर्य यह है। इस बातको ध्यानमें रखकर जितना हो सके, उतना ही करनेको हाथमें लें और संतोष मानें। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इससे हम अपनेको और समाजको अधिक-से-अधिक आगे बढ़ानेमें अपना कर्तव्य करते हैं। जबतक इसका पूरा-पूरा अमल न हो ले, तबतक तो यह कोरा पांडित्य ही कहा जायगा। दिन-दिन इस दिशामें बढ़ तो रहा हूँ। बाहर निकलनेपर कया होगा, वह भगवान् जाने। तुम इसमेंसे बन सके तो इतना तो अमलमें ला सकते हो कि यज्ञके निमित्त जितने तार तय कर लो, उतने तो शास्त्रीय रीतिसे कातो। बाकी तो चाहो जिस दिशामें हिन्दुस्तानकी संपत्ति बढ़ानेके इरादेसे कातते रहो। अभी लिखते जानेकी इच्छा होती है। पर अब बस करता हूँ।

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन कहता है : “आप ज्ञानको विशेष बतलाते हैं। इससे मैं समझता हूँ कि कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है, संन्यास ही अच्छा है। पर फिर आप कर्मकी भी स्तुति करते हैं, तब यह लगता है कि योग ही अच्छा है। इन दोनोंमें अधिक अच्छा कया है, यह मुझको निश्चयपूर्वक कहिये। तभी मुझे कुछ शांति मिल सकती है।”

यह सुनकर भगवान् बोले : संन्यास अर्थात् ज्ञान और कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्म ये दोनों अच्छे हैं, पर यदि तुझे चुनाव ही करना है तो मैं कहता हूँ कि योग अर्थात् अनासक्तिपूर्वक कर्म अधिक अच्छा है। जो मनुष्य किसी वस्तु या मनुष्यका न द्वेष करता है, न कोई इच्छा रखता है और सुख-दु:ख, सर्दी-गर्मी इत्यादि द्वंद्वोंसे परे रहता है, वह संन्यासी ही है। फिर वह कर्म करता हो या न करता हो। ऐसा मनुष्य सहजमें बंधनमुक्त हो जाता है। अज्ञानी ज्ञान और योगमें भेद करता है, ज्ञानी नहीं। दोनोंका परिणाम एक ही होता है, अर्थात् दोनोंसे वही स्थान मिलता है। इसलिए सच्चा जाननेवाला वही है, जो दोनोंको एक ही समझता है, क्योंकि शुद्ध ज्ञानवालेकी संकल्पभरसे कार्यसिद्धि होती है, अर्थात् बाहरी कर्म करनेकी उसे जरूरत नहीं रहती। जब जनकपुरी जल रही थी, तब दूसरोंका धर्म था कि जाकर आग बुझायें। जनकके संकल्पसे ही उनका आग बुझानेका कर्तव्य पूरा हो रहा था, क्योंकि उनके सेवक उनके अधीन थे। यदि वह घड़ाभर पानी लेकर दौड़ते तो कुल चौपट कर देते। दूसरे लोग उनकी ओर ताकते रहते और अपना कर्तव्य बिसर जाते और विशेष भलमनसी दिखाते तो हक्के-बक्के होकर जनककी रक्षा करने दौड़ते। पर सब झटपट जनक नहीं बन सकते। जनककी स्थिति बड़ी दुर्लभ है। करोड़ोंमेंसे किसीको अनेक जन्मोंकी सेवासे वह प्राप्त हो सकती है। यह भी नहीं है कि इसकी प्राप्तिपर कोई विशेष शांति हो। उत्तरोत्तर निष्काम कर्म करते मनुष्यका संकल्पबल बढ़ता जाता है और बाहरी कर्म कम होते जाते हैं। कहा जा सकता है कि वास्तवमें देखनेपर उसे इसका पता भी नहीं चलता। इसके लिए उसका प्रयत्न भी नहीं होता। वह तो सेवा-कार्यमें ही डूबा रहता है। उससे उसकी सेवा-शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसे सेवासे कोई थकान आती नहीं जान पड़ती। इससे अंतमें उसके संकल्पमें ही सेवा आ जाती है, वैसे ही जैसे बहुत जोरसे गति करती हुई वस्तु स्थिर-सी लगती है। ऐसा मनुष्य कुछ करता नहीं है, यह कहना प्रत्यक्षरूपसे अयुक्त है। पर ऐसी स्थिति साधारणत: कल्पनाकी ही वस्तु

है, अनुभवमें नहीं आती। इसलिए मैंने कर्मयोगको विशेष कहा है। करोड़ों निष्काम कर्ममेंसे ही संन्यासका फल प्राप्त करते हैं। वे संन्यासी होने जायँ तो इधर या उधर, कहींके न रहेंगे। संन्यासी होने गये तो मिथ्याचारी हो जानेकी पूरी संभावना है, और कर्मसे तो गये ही, मतलब सब खोया, पर जो मनुष्य अनासक्ति-सहित कर्म करता हुआ शुद्धता प्राप्त करता है, जिसने अपने मनको जीता है, जिसने अपनी इंद्रियोंको वशमें रखा है, जिसने सब जीवोंके साथ अपनी एकता साधी है और सबको अपने समान ही मानता है, वह कर्म करते हुए भी उससे अलग रहता है, अर्थात् बंधनमें नहीं पड़ता। ऐसे मनुष्यके बोलने-चालने आदिकी क्रियाएँ करते हुए भी ऐसा लगता है कि इन क्रियाओंको इंद्रियाँ अपने धर्मानुसार कर रही हैं। स्वयं वह कुछ नहीं करता। शरीरसे आरेग्यवान् मनुष्यकी क्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं। उसके जठर आदि अपने-आप काम करते हैं, उनकी ओर उसे खयाल नहीं दौड़ाना पड़ता, वैसे ही जिसकी आत्मा आरेग्यवान् है, उसके लिए कहा जा सकता है कि शरीरमें रहते हुए भी स्वयं अलिप्त है, कुछ नहीं करता। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि सब कर्म ब्रह्मार्पण करे, ब्रह्मके ही निमित्त करे। तब वह करते हुए भी पाप-पुण्यका पुंज नहीं रचता। पानीमें कमलकी भाँति कोरा-का-कोरा ही रहेगा। इसलिए जिसने अनासक्तिका अभ्यास कर लिया है, वह योगी कायासे, मनसे, बुद्धिसे कार्य करते हुए भी, संगरहित होकर, अहंकार तजकर बरतता है, जिससे शुद्ध हो जाता है और शांति पाता है। दूसरा रोगी, जो परिणाममें फँसा हुआ है, कैदीकी भाँती अपनी कामनाओंमें बँधा रहता है। इस नौ दरवाजेवाले देहरूपी नगरमें सब कर्मोंका मनसे त्याग करके स्वयं कुछ न करता-कराता हुआ योगी सुखपूर्वक रहता है। संस्कारवान् संशुद्ध आत्मा न पाप करता है, न पुण्य। जिसने कर्ममें आसक्ति नहीं रखी, अहंभाव नष्ट कर दिया, फलका त्याग किया, वह जड़की भाँति बरतता है, निमित्तमात्र बना रहता है। भला उसे पाप-पुण्य कैसे छू सकते हैं? इसके विपरीत जो अज्ञानमें फँसा है, वह हिसाब लगाता है, इतना पुण्य किया, इतना पाप किया और इससे वह नित्य नीचेको गिरता जाता है और अंतमें उसके पल्ले पाप ही रह जाता है। ज्ञानसे अपने अज्ञानका नित्य नाश करते जानेवालेके कर्ममें नित्य निर्मलता बढ़ती जाती है, संसारकी दृष्टीमें उसके कर्मोंमें पूर्णता और पुण्यता होती है। उसके सब कर्म स्वाभाविक जान पड़ते हैं। वह समदर्शी होता है। उसकी नजरोंमें विद्या और विनयवाला ब्रह्मज्ञाता ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, विवेकहीन - पशुसे भी गया-बीता - मनुष्य सब समान हैं। मतलब, कि सबकी वह समान भावसे सेवा करेगा - यह नहीं कि

किसीको बड़ा मानकर उसका मान करेगा और दूसरेको तुच्छ समझकर उसका तिरस्कार करेगा। अनासक्त मनुष्य अपनेको सबका देनदार मानेगा, सबको उनका लहना चुकायेगा और पूरा न्याय करेगा। उसने जीते-जी जगत् को जीत लिया है, वह ब्रह्ममय है। अपना प्रिय करनेवालेपर वह रीझता नहीं, गाली देनेवालेपर खीझता नहीं। आसक्तिवान् सुखको बाहर ढूँढ़ता है, अनासक्त निरंतर भीतरसे शांति पाता है, क्योंकि उसने बाहरसे जीवको समेट लिया है। इंद्रियजन्य सारे भोग दु:खके कारण हैं। मनुष्यको काम-क्रोधसे उत्पन्न उपद्रव सहन करने चाहिए। अनासक्त योगी सब प्राणियोंके हितमें ही लगा रहता है। वह शंकाओंसे पीड़ित नहीं होता। ऐसा योगी बाहरी जगत् से निराला रहता है, प्राणायामादिके प्रयोगोंसे अंतमुर्खताका यत्न करता रहता है और इच्छा, भय, क्रोध आदिसे पृथक् रहता है। वह मुझे ही सबका महेश्वर, मित्ररूप, यज्ञादिक भोक्ताकी भाँति जानता है और शांति प्राप्त करता है।

छठा अध्याय

मंगल-प्रभात

१६-१२-१९३०

श्री भगवान् कहते हैं—कर्म-फल त्यागकर कर्तव्य-कर्म करनेवाला मनुष्य संन्यासी कहलाता है और योगी भी कहलाता है। जो क्रियामात्रका त्याग कर बैठता है, वह आलसी है। असली बात तो है मनके घोड़े दौड़ाना छोड़नेकी। जो योग अर्थात् समत्वको साधना चाहता है, उसकी कर्म बिना गुजर ही नहीं। जिसे समत्व प्राप्त हो गया है, वह शांत दिखाई देता है। तात्पर्य, उसके विचारमात्रमें कर्मका बल आ गया रहता है। जब मनुष्य इंद्रियके विषयोंमें या कर्ममें आसक्त न हो और मनकी सारी तरंगोंको छोड़ दे, तब कहना चाहिए कि उसने योग साधा है, वह योगारूढ़ हुआ है।

आत्माका उद्धार आत्मासे ही होता है। तब कह सकते हैं कि आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु बनता है और मित्र बनता है। जिसने मनको जीता है, उसका आत्मा मित्र है, जिसने नहीं जीता है, उसका आत्मा शत्रु है। मनको जीतनेवालेकी पहचान है कि उसके लिए सरदी-गरमी, सुख-दु:ख, मान-अपमान सब एक समान होते हैं। योगी उसका नाम है, जिसे ज्ञान है, अनुभव है, जो अविचल है, जिसने इंद्रियोंपर विजय पायी है और जिसके लिए सोना, मिट्टी या पत्थर समान है। वह शत्रु-मित्र, साधु-असाधु इत्यादिके प्रति समभाव रखता है। ऐसी स्थितिको पहुँचनेके लिए मन स्थिर करना, वासनाएँ त्यागना और एकांतमें बैठकर परमात्माका ध्यान करना चाहिए। केवल आसन आदि ही बस नहीं हैं। समत्व-प्राप्तिके इच्छुकोंको ब्रह्मचर्यादि महाव्रतोंका भली प्रकार पालन करना चाहिए। यों आसनबद्ध हुए यम-नियमोंका पालन करनेवाले मनुष्यको अपना मन परमात्मामें स्थिर करनेसे परम शांति प्राप्त होती है।

यह समत्व ठूँस-ठूँसकर खानेवाला तो नहीं पा सकता, पर कोरे उपवाससे भी नहीं मिलता, न बहुत सोनेवालेको मिलता है, वैसे ही बहुत जागनेसे भी हाथ नहीं आता। समत्व-प्राप्तिके इच्छुकको तो सबमें - खानेमें, पीनेमें, सोने-जागनेमें भी मर्यादाकी रक्षा करनी चाहिए। एक दिन खूब खाया और दूसरे दिन उपवास; एक दिन खूब सोये और दूसरे दिन जागरण; एक दिन खूब काम करना और दूसरे दिन अलसाना, यह योगकी निशानी नहीं है। योगी तो सदैव स्थिरचित्त होता है और कामनामात्रका वह

अनायास त्याग किये रहता है। ऐसे योगीकी स्थिति निर्वात स्थानमें दीपककी भाँति स्थिर रहती है। उसे जगके खेल अथवा अपने मनमें उठनेवाले विचारोंकी लहरें डाँवाडोल नहीं कर सकतीं। धीरे-धीरे, किंतु दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करनेसे यह योग सध सकता है। मन चंचल है, इससे इधर-उधर दौड़ता है, उसे धीरे-धीरे स्थिर करना चाहिए। उसके स्थिर होनेसे ही शांति मिलती है, या मनकी स्थिरताके लिए निरंतर आत्मचिंतन आवश्यक है। ऐसा मनुष्य सब जीवोंको अपनेमें और अपनेको सबमें देखता है, क्योंकि वह मुझे सबमें और सबको मुझमें देखता है। जो मुझमें लीन है, मुझे सर्वत्र देखता है, वह स्वयं नहीं रह गया है, इसलिए चाहे जो करता हुआ भी मुझीमें पिरोया हुआ रहता है। उसके हाथसे कभी कुछ अकरणीय नहीं हो सकता।

अर्जुनको यह योग कठिन लगा। वह बोला : “यह आत्म-स्थिरता कैसे प्राप्त हो? मन तो बंदरके समान है। मनका रोकना हवा रोकनेके समान है। ऐसा मन कब और कैसे वशमें आता है?”

भगवान् ने उत्तर दिया : “तेरा कहना सच है। पर राग-द्वेषको जीतने और प्रयत्न करनेसे कठिनको आसान किया जा सकता है। 'निस्संदेह’ मनको जीते बिना योगका साधन नहीं बन सकता।”

तब फिर अर्जुन पूछता है : “मान लीजिये कि मनुष्यमें श्रद्धा है, पर उसका प्रयत्न मंद होनेसे वह सफल नहीं होता। ऐसे मनुष्यकी क्या गति होती है? वह बिखरे बादलकी तरह नष्ट तो नहीं हो जाता?”

भगवान् बोले : “ऐसे श्रद्धालुका नाश तो होता ही नहीं। कल्याण-मार्गकी अवगति नहीं होती। ऐसा मनुष्य मरनेपर कर्मानुसार पुण्यलोकमें बसनेके बाद पृथ्वीपर लौट आता है और पवित्र घरमें जन्म लेता है। ऐसा जन्म लोकोंमें दुर्लभ है। ऐसे घरमें उसके पूर्व-संस्कार उदय होते हैं। अब प्रयत्नमें तेजी आती है और अंतमें उसे सिद्धि मिलती है। यों प्रयत्न करते-करते कोई जल्दी और कोई अनेक जन्मोंके बाद अपनी श्रद्धा और प्रयत्नके बलके अनुसार समत्वको पाता है। तप, ज्ञान, कर्मकांड-संबंधी कर्म - इन सबसे समत्व विशेष है, क्योंकि तपादिका अंतिम परिणाम भी समता ही होना चाहिए। इसलिए तू समत्व लाभ कर और योगी हो। अपना सर्वस्व मुझे अर्पण कर और श्रद्धापूर्वक मेरी ही आराधना करनेवालोंको श्रेष्ठ समझ।“

इस अध्यायमें प्राणायाम-आसन आदिकी स्तुति है। पर स्मरण रखें कि भगवान्ने उसीके साथ ब्रह्मचर्यका अर्थात् ब्रह्म-प्राप्तिके यम-नियमादि पालनकी आवश्यकता बतलायी है। यह समझ लेना आवश्यक है कि अकेली आसनादि क्रियासे कभी समत्व नहीं प्राप्त हो सकता। यदि उस हेतुसे वे क्रियाएँ हों तो आसन-प्राणायामादि मनको स्थिर करनेमें, एकाग्र करनेमें, थोड़ी-सी मदद करते हैं, अन्यथा उन्हें अन्य शारीरिक व्यायामोंकी श्रेणीमें समझकर उतनी ही - शरीर-सुधारभर ही - कीमत माननी चाहिए। शारीरिक व्यायामरूपमें प्राणायामादिका बहुत उपयोग है। व्यायामोंमें यह व्यायाम सात्त्विक है। शारीरिक दृष्टिसे इसका साधन उचित है, पर उससे सिद्धियाँ पाने और चमत्कार देखनेको ये क्रियाएँ करनेमें मैंने लाभके बजाय हानि होते देखी है। यह अध्याय तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायका उपसंहाररूप समझना चाहिए। यह प्रयत्नशीलको आश्वासन देता है। हमें समता प्राप्त करनेका प्रयत्न हारकर कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

सातवाँ अध्याय

मंगल-प्रभात

२३-१२-१९३०

भगवान् बोले : “हे पार्थ, अब मैं तुम्हें बतलाऊँगा कि मुझमें चित्त पिरोकर और मेरा आश्रय लेकर कर्मयोगका आचरण करता हुआ मनुष्य निश्चयपूर्वक मुझे सम्पूर्ण रीतिसे कैसे पहचान सकता है। इस अनुभवयुक्त ज्ञानके बाद फिर और कुछ जाननेको बाकी नहीं रहेगा। हजारोंमें कोई-कोई ही उसकी प्राप्तिका प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवालोंमें कोई ही सफल होता है।

पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु तथा मन, बुद्धि और अहंकारवाली आठ प्रकारकी एक मेरी प्रकृति है। इसे 'अपरा' प्रकृति और दूसरेको 'परा’ प्रकृति कहते हैं, जो जीवरूप है। इन दो प्रकृतियोंसे अर्थात् देह और जीवके संबंधसे सारा जगत् है। जैसे मालाके आधारपर उसके मणि रहते हैं, वैसे जगत् मेरे आधारपर विद्यमान है। तात्पर्य, जलमें रस मैं हूँ, सूर्य-चन्द्रका तेज मैं हूँ, वेदोंका ॐकार मैं हूँ, आकाशका शब्द मैं हूँ, पुरुषोंका पराक्रम मैं हूँ, मिट्टीमें सुगंध मैं हूँ, अग्निका तेज मैं हूँ, प्राणीमात्रका जीवन मैं हूँ, तपस्वीका तप मैं हूँ, बुद्धिमानकी बुद्धि मैं हूँ, बलवान्का बल मैं हूँ, जीवमात्रमें विद्यमान धर्मकी अवरोधी कामना मैं हूँ, संक्षेपमें सत्त्व, रजस् और तमस् से उत्पन्न होनेवाले सब भावोंको मुझसे उत्पन्न हुआ जान, उनकी स्थिति मेरे आधारपर ही है। मेरी त्रिगुणी मायाके कारण इन तीन भावों या गुणोंमें रचे-पचे लोग मुझ अविनाशीको पहचान नहीं सकते। उसे तर जाना कठिन है, पर मेरी शरण लेनेवाले इस मायाको अर्थात् तीन गुणोंको लाँघ सकते हैं।

पर ऐसे मूढ़ लोग मेरी शरण कैसे ले सकते हैं, जिनके आचार-विचारका कोई ठिकाना नहीं है? वे तो मायामें पड़े अंधकारमें ही चक्कर काटा करते हैं और ज्ञानसे वंचित रहते हैं, पर श्रेष्ठ आचारवाले मुझे भजते हैं। इनमें कोई अपना दु:ख दूर करनेको मुझे भजता है, कोई मुझे पहचाननेकी इच्छासे भजता है और कोई कर्तव्य समझकर ज्ञानपूर्वक मुझे भजता है। मुझे भजनेका अर्थ है, मेरे जगत्की सेवा करना। उसमें कोई दु:खके मारे, कोई कुछ लाभ-प्राप्तिकी इच्छासे, कोई इस खयालसे कि चलो देखा जाय, क्या होता है और कोई समझ-बूझकर इसलिए कि उसके बिना उनसे रहा ही नहीं जाता,

सेवापरायण रहते हैं। ये अंतिम मेरे ज्ञानी भक्त हैं और मैं कहूँगा कि मुझे ये सबसे अधिक प्यारे हैं, या यह समझो कि वे मुझे अधिक-से-अधिक पहचानते हैं और मेरे निकट-से-निकट हैं। अनेक जन्मोंके बाद ही मनुष्य ऐसा ज्ञान पाता है और उसे पानेपर इस जगत्में मुझ वासुदेवके सिवा और कुछ नहीं देखता। पर कामनावाले मनुष्य तो भिन्न-भिन्न देवताओंको भजते हैं और जिसकी जैसी भक्ति, उसको वैसा फल देनेवाला तो मैं ही हूँ। उन ओछी समझवालोंको मिलनेवाला फल भी वैसा ही ओछा होता है, और उतनेसे ही उनको संतोष भी रहता है। वे अपनी कमअक्लीसे मानते हैं कि मुझे वे इंद्रियोंद्वारा पहचान सकते हैं। वे नहीं समझते कि मेरा अविनाशी और अनुपम स्वरूप इंद्रियोंसे परे है तथा हाथ, कान, नाक, आँख इत्यादि द्वारा पहचाना नहीं जा सकता। इसे मेरी योगमाया समझ कि इस प्रकार सारी चीजोंका विधाता होनेपर भी अज्ञानी लोग मुझे पहचान नहीं सकते। राग-द्वेषके द्वारा सुख-दुःख होते ही रहते हैं और उसके कारण जगत् मोहग्रस्त रहता है, पर जो उसमेंसे छूट गये हैं और जिनके आचार-विचार निर्मल हो गये हैं, वे तो अपने व्रतमें निश्चल रहकर निरंतर मुझे ही भजते हैं। वे पूर्ण ब्रह्मरूपसे सब प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेवाले जीवरूपमें रहे हुए मुझे और मेरे कर्मको जानते हैं। यों जो मुझे अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञरूपसे पहचानते हैं और इससे जिन्होंने समत्व प्राप्त किया है, वे मृत्युके अनन्तर जन्म-मरणके बंधनसे मुक्त हो जाते हैं; क्योंकि इतना जान लेनेपर उनका मन अन्यत्र नहीं भटकता और सारे जगत्को ईश्वरमय देखते हुए वे ईश्वरमें ही समा जाते हैं।"

आठवाँ अध्याय

सोम-प्रभात

२९-१२-१९३०

अर्जुन पूछता है : "आपने पूर्णब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधि-दैव, अधियज्ञका नाम लिया, पर इन सबका अर्थ मैंने समझा नहीं। फिर आप कहते हैं कि आपको अधिभूतरूपसे जानकर समत्वको प्राप्त हुए लोग मृत्युके समय पहचानते हैं। यह सब मुझे समझाइये।"

भगवान् ने उत्तर दिया : जो सर्वोत्तम नाशरहितस्वरूप है, वह पूर्णब्रह्म है और जो प्राणीमात्रमें कर्ता-भोक्तारूपसे देह धारण किये हुए है, वह अध्यात्म है। प्राणीमात्रकी उत्पत्ति जिस क्रियासे होती है, उसका नाम कर्म है। अत: यह भी कह सकते हैं कि जिस क्रियासे उत्पत्तिमात्र होती है, वह कर्म है। मेरा नाशवान् देहस्वरूप अधिभूत है और यज्ञद्वारा शुद्ध हुआ अध्यात्मस्वरूप अधियज्ञ है। यों देहरूपमें, मूर्च्छित जीवरूपमें, शुद्ध जीवरूपमें और पूर्ण ब्रह्मरूपमें सर्वत्र मैं ही हूँ और ऐसा जो मैं हूँ, उसका मृत्युके समयमें जो ध्यान धरता है, अपनेको विसार देता है, किसी प्रकारकी चिंता नहीं करता, इच्छा नहीं करता, वह निस्संदेह मेरे स्वरूपको प्राप्त करता है। मनुष्य जिस स्वरूपका नित्य ध्यान धरता है, अंतकालमें भी उसका ध्यान रहे तो उस स्वरूपको वह पाता है और इसीलिए तू नित्य मेरा ही स्परण रख। मुझमें ही मन-बुद्धि पिरो रख। तब मुझे ही पायेगा। तू इस प्रकार चित्तके स्थिर न हो पानेकी बात कहेगा। मेरा कहना है कि नित्यके अभ्याससे, नित्यके प्रयत्नसे इस प्रकार मनुष्य एकध्यान अवश्य हो जाता है, क्योंकि मैं तुझसे कह चुका हूँ कि मूलकी दृष्टिसे विचारनेपर तो देहधारी भी मेरा ही स्वरूप है। इसलिए मनुष्यको पहलेसे ही तैयारी करनी चाहिए कि मृत्युके समय मन चलायमान न हो, भक्तिमें लीन रहे, प्राणको स्थिर रखे और सर्वज्ञ पुरातन, नियन्ता, सूक्ष्म होते हुए भी सबके पालनकी शक्ति रखनेवाले, चिंतनद्वारा तत्काल न पहचाने जा सकनेवाले, सूर्यके समान अंधकार-अज्ञान मिटानेवाले परमात्माका ही स्मरण करे।

इस परमपदको वेद अक्षरब्रह्म नामसे पहचानते हैं, राग-द्वेषादि-त्यागी मुनि उसे पाते हैं और उस पदकी प्राप्तिके सब इच्छुक ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं। तात्पर्य, काया, वाचा और मनको अंकुशमें रखते

हैं, विषयमात्रका तीनों प्रकारसे त्याग करते हैं। इंद्रियोंको समेट लेकर ॐका उच्चारण करते, मेरा ही चिंतन करते-करते देह छोड़नेवाले स्त्री-पुरुष परमपद पाते हैं। ऐसों-का चित्त कहीं अन्यत्र नहीं भटकता और यों मुझे पाकर यह दु:ख-निवासरूपी जन्म फिर नहीं लेना पड़ता। इस जन्म-मरणके चक्करसे छूटनेका उपाय मेरी प्राप्ति ही है।

अपने सौ वर्षके जीवनकालसे मनुष्य कालका अनुमान लगाता है और उतने समयमें हजारों जाल फैलाता है, पर काल तो अनंत है। हजारों युगोंको ब्रह्माके एक दिनके बराबर समझ। इसमें मनुष्यके एक दिनकी या सौ वर्षकी क्या बिसात? इस तनिकसे समयको लेकर इतनी व्यर्थकी दौड़-धूप क्यों? जिस अनंत कालके चक्रमें मनुष्यका जीवन क्षणमात्रके समान है, उसमें तो ईश्वरका ध्यान ही शोभा देता है, क्षणिक भोगोंके पीछे दौड़ना नही। ब्रह्माके रात-दिनमें उत्पत्ति और नाश चलता ही रहता है और चलता रहेगा।

उत्पत्ति-लय करनेवाला ब्रह्मा भी मेरा ही भाव है। वह अव्यक्त है, इंद्रियोंसे नहीं जाना जा सकता। इससे भी परे मेरा अन्य अव्यक्त स्वरूप है, जिसका कुछ वर्णन मैंने तुझसे किया है। उसे पानेवाला जन्म-मरणसे छूट जाता है, क्योंकि इस स्वरूपके लिए रात-दिनवाला द्वन्द्व नहीं है, यह केवल शांत अचल स्वरूप है। इसके दर्शन अनन्य भक्तिसे ही होते हैं। इसीके आधारपर सारा जगत् है और वह स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है।

कहते हैं कि उत्तरायणके शुक्लपक्षके दिनोंमें मरनेवाला उपर्युक्त प्रकारसे स्मरण करता हुआ मुझे पाता है और दक्षिणायनमें, कृष्णपक्षकी रात्रिमें, मृत्यु पानेवालेके पुनर्जन्मके चक्कर बाकी रह जाते हैं। इसका अर्थ यों किया जा सकता है कि उत्तरायण और शुक्लपक्ष यह निष्काम सेवा-मार्ग है और दक्षिणायन और कृष्णपक्ष स्वार्थमार्ग है। सेवा-मार्ग अर्थात् ज्ञानमार्ग, स्वार्थमार्ग अर्थात् अज्ञानमार्ग। ज्ञानमार्गसे चलनेवालेको मोक्ष है और अज्ञानमार्गसे चलनेवालेको बंधन। इन दोनों मार्गोकों जान लेनेपर कौन मोहमें रहकर अज्ञानमार्गको पसंद करेगा? इतना जाननेपर मनुष्यमात्रको सब पुण्य-फल छोड़कर, अनासक्त रहकर, कर्तव्यमें परायण रहकर मैंने जो कहा है, वह उत्तम स्थान पानेका ही प्रयत्न करना चाहिए।

नवाँ अध्याय

सोम-प्रभात

५-१-१९३१

गत अध्यायके अंतिम श्लोकमें योगीका उच्च स्थान बतला देनेपर भगवान्‌के लिए अब भक्तिकी महिमा बतलाना ही बाकी रह जाता है, क्योंकि गीताका योगी शुष्क ज्ञानी नहीं है, न बाह्याचारी भक्त ही। गीताका योगी ज्ञान और भक्तिमय अनासक्त कर्म करनेवाला है। अत: भगवान् कहते हैं—तुझमें द्वेष नहीं है, इससे तुझे मैं गुह्य ज्ञान कहता हूँ कि जिसे पाकर तेरा कल्याण होगा। यह ज्ञान सर्वोपरि है, पवित्र है और आचारमें अनायास लाया जा सकने योग्य है। जिसे इसमें श्रद्धा नहीं होती, वह मुझे नहीं पा सकता। मेरे स्वरूपको मनुष्यप्राणी इंद्रियोंद्वारा नहीं पहचान सकते, तथापि इस जगत् में वह व्यापक है। जगत् उसके आधारपर स्थित है। वह जगत्‌के आधारपर नहीं है। फिर यों भी कहा जाता है कि ये प्राणी मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूँ। यद्यपि मैं उनकी उत्पत्तिका कारण हूँ और उनका पोषणकर्ता हूँ। वे मुझमें नहीं हैं और मैं उनमें नहीं हूँ, क्योंकि वे अज्ञानमें रहनेके कारण मुझे जानते नहीं हैं, उनमें भक्ति नहीं है। तू समझ कि यह मेरा चमत्कार है।

पर मैं प्राणियोंमें नहीं हूँ, ऐसा जान पड़ता है, तथापि वायुकी भाँति मैं सर्वत्र फैला हुआ हूँ और सारे जीव युगका अंत होनेपर लय हो जाते हैं और आरंभ होनेपर फिर जन्मते हैं। इन कर्मोंका कर्ता होनेपर भी वह मुझे बंधनकारक नहीं है, क्योंकि उनमें मुझे आसक्ति नहीं है, मैं उनमें उदासीन हूँ। वे कर्म होते रहते हैं, क्योंकि यह मेरी प्रकृति है, मेरा स्वभाव है। पर ऐसा जो मैं हूँ, उसे लोग पहचानते नहीं हैं, इसलिए वे नास्तिक बने रहते हैं। मेरे अस्तित्वसे ही इनकार करते हैं। ऐसे लोग झूठे हवाई महल बनाते रहते हैं। उनके कर्म भी व्यर्थ होते हैं और वे अज्ञानसे भरपूर होनेके कारण आसुरी वृत्तिवाले होते हैं। पर दैवी वृत्तिवाले अविनाशी और सिरजनहार जानकर मुझे भजते हैं। वे दृढ़-निश्चयी होते हैं, नित्य-प्रयत्नवान् रहते हैं, मेरा भजन-कीर्तन करते और मेरा ध्यान धरते हैं। इसके सिवा कितने ही मुझे एक ही माननेवाले हैं। कितने ही मुझे बहुरूपसे मानते हैं। मेरे अनंतगुण होनेके कारण बहुरूपसे माननेवाले भिन्न गुणोंको भिन्न रूपसे देखते हैं, पर इन सबको तू भक्त जान।

यज्ञका संकल्प मैं, यज्ञ मैं, पितरोंका आधार मैं, यज्ञकी वनस्पति मैं, मंत्र मैं, आहुति मैं, हविष्य मैं, अग्नि मैं और जगत्का पिता मैं, माता मैं, जगत्को धारण करनेवाला मैं, पितामह मैं, जानने योग्य भी मैं, ॐकार मंत्र मैं, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद मैं, गति मैं, पोषण मैं, प्रभु मैं, साक्षी मैं, आश्रय मैं, कल्याण चाहनेवाला भी मैं, उत्पत्ति और नाश मैं, सर्दी-गर्मी मैं, सत् और असत् भी मैं हूँ।

वेदमें वर्णित क्रियाएँ फल-प्राप्तिके लिए होती हैं। अत: उन्हें करनेवाले स्वर्ग चाहे पायें, पर जन्म-मरणके चक्करसे नहीं छूटते। पर जो एक ही भावसे मेरा चिंतन करते रहते हैं और मुझे ही भजते हैं, उनका सारा भार मैं उठाता हूँ। उनकी आवश्यकताएँ मैं पूरी करता हूँ और उनकी मैं ही सँभाल करता हूँ। अन्य कुछ, दूसरे देवताओंमें श्रद्धा रखकर उन्हें भजते हैं। इसमें अज्ञान है, तथापि अंतमें तो वे भी मुझे ही भजनेवाले माने जायेंगे, क्योंकि यज्ञमात्रका मैं ही स्वामी हूँ। पर मेरी इस व्यापकताको न जानकर वे अंतिम स्थितिको पहुँच नहीं सकते। देवताओंको पूजनेवाले देवलोक, पितरोंको पूजनेवाले पितृलोक, भूतप्रेतादिको पूजनेवाले उनका लोक और ज्ञानपूर्वक मुझे भजनेवाले मुझे पाते हैं। जो मुझे एक पत्तातक भक्तिपूर्वक अर्पण करते हैं, उन प्रयत्नशील मनुष्योंकी भक्तिको मैं स्वीकार करता हूँ। इसलिए जो कुछ तू करे, वह सब मुझे अर्पण करके ही कर। तब शुभ-अशुभ फलका उत्तरदायित्व तेरा नहीं रहेगा। जब तूने फलमात्रका त्याग कर दिया, तब तेरे लिए जन्म-मरणके चक्कर नहीं रह गये। मुझे सब प्राणी समान हैं। एक प्रिय और दूसरा अप्रिय हो, यह नहीं है। पर जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे तो मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ। इसमें पक्षपात नहीं है, बल्कि यह उन्होंने अपनी भक्तिका फल पाया है। इस भक्तिका चमत्कार ऐसा है कि जो एक भावसे मुझे भजते हैं, वे दुराचारी हों तो भी साधु बन जाते हैं। सूर्यके सामने जैसे अँधेरा नहीं ठहरता, वैसे मेरे पास आते ही मनुष्यके दुराचारोंका नाश हो जाता है। इसलिए तू निश्चय समझ ले कि मेरी भक्ति करनेवाले कभी नाशको प्राप्त ही नहीं होते। वे तो धर्मात्मा होते हैं और शांति भोगते हैं। इस भक्तिकी महिमा ऐसी है कि जो पापयोनिमें जनमे माने जाते हैं वे, और निरक्षर स्त्रियाँ, वैश्य और शुद्र, जो मेरा आश्रय लेते हैं वे, मुझे पाते ही हैं, तब पुण्यकर्म करनेवाले ब्राह्मण-क्षत्रियोंका तो कहना ही क्या रहा! जो भक्ति करता है, उसे उसका फल मिलता है। इसलिए तू जब असार संसारमें आ गया है तो मुझे भजकर उसे तर जा। अपना मन मुझमें पिरो दे, मेरा ही भक्त रह, अपने यज्ञ भी मेरे लिए

कर, अपने नमस्कार भी मुझे ही पहुँचा और इस भाँति मुझमें तू परायण होगा और अपनी आत्माको मुझमें होमकर शून्यवत् हो जायगा तो तू मुझे ही पायेगा।

मंगल-प्रभात

टिप्पणी : इसमेंसे हम पाते हैं कि भक्तिका तात्पर्य है ईश्वरमें आसक्ति। अनासक्तिके अभ्यासका भी यह सरल-से-सरल उपाय है। इसीसे अध्यायके आरंभमें प्रतिज्ञा की है कि भक्ति राजयोग है और सरल मार्ग है। हृदयमें जो बैठ जाय वह सरल है, जो न बैठे वह विकट है। इसीसे उसे 'सिरका सौदा' भी माना गया है। पर यह ऐसा है कि देखनेवाले जलते हैं। अंदर पड़े हुए महासुख मानते हैं। कवि लिखता है कि उबलते तेलकी कड़ाहीमें सुधन्वा हँसता था और बाहर खड़े हुए काँपते थे। कथा है कि नंद अंत्यजकी जब अग्निपरीक्षा हुई, तब वह अग्निमें नाचता था। इन सबकी सचाईकी ऐतिहासिकताकी खोजकी जरूरत नहीं है। जो किसी भी चीजमें लीन होता है, उसकी ऐसी ही स्थिति होती है। वह अपनेको भूल जाता है, पर प्रभुको छोड़कर दूसरेमें लीन कौन होगा? 'शक्कर गन्नेका स्वाद छोड़ कडुवे नीमको मत घोल रे, सूरज-चाँदका तेज तज, जुगनूसे मन मत जोड़ रे।'

अत: नवाँ अध्याय बतलाता है कि प्रभु-आसक्ति अर्थात् भक्तिके बिना फलमें अनासक्ति असंभव है। अंतिम श्लोक सारे अध्यायका निचोड़ है और हमारी भाषामें उसका अर्थ है : "तू मुझमें समा जा।"

दसवाँ अध्याय

सोम-प्रभात

१२-१-१९३१

भगवान् कहते हैं : दोबारा भक्तोंके हितके लिए कहता हूँ, सो सुन। देव और महर्षिगणतक मेरी उत्पत्ति नहीं जानते हैं, क्योंकि मेरे लिए उत्पन्नता ही नहीं है। मैं उककी और अन्य सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ। जो ज्ञानी मुझे अजन्मा और अनादिरूपमें पहचानते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, क्योंकि परमेश्वरको इस रूपमें जानने और अपनेको उसकी प्रजा अथवा उसके अंशकी भाँति पहचाननेपर मनुष्यकी पापवृत्ति नहीं रह सकती। पापवृत्तिका मूल ही निजसंबंधी अज्ञान है।

जैसे प्राणी मुझसे पैदा हुए हैं, वैसे उनके भिन्न-भिन्न भाव भी, जैसे क्षमा, सत्य, सुख, दु:ख, जन्म-मृत्यु, भय-अभय आदि भी मुझसे उत्पन्न हुए हैं। यह सब मेरी विभूति है। जो यह जान लेते हैं, उनमें सहज ही समता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वे अहंताको छोड़ देते हैं। उनका चित्त मुझमें ही पिरोया हुआ रहता है, वे मुझे अपना सब कुछ अर्पण करते हैं, परस्पर मेरे विषयमें ही वार्तालाप करते हैं, मेरा ही कीर्तन करते हैं और संतोष तथा आनंदसे रहते हैं। इस प्रकार जो मुझे प्रेमपूर्वक भजते हैं और मुझमें ही जिनका मन रहता है, उन्हें मैं ज्ञान देता हूँ और उसके द्वारा वे मुझे पाते हैं।

तब अर्जुनने स्तुति की - आप ही परब्रह्म हैं, परमधाम हैं, पवित्र हैं, ऋषि आदि आपको आदिदेव, अजन्मा, ईश्वररूपसे भजते हैं, ऐसा आप ही कहते हैं। हे स्वामी, हे पिता, आपका स्वरूप कोई जानता नहीं है, आप ही अपनेको जानते हैं। अब मुझसे अपनी विभूतियाँ और साथ ही यह कहिये कि आपका चिंतन करते हुए मैं आपको कैसे पहचान सकता हूँ?

भगवान् ने जवाब दिया : मेरी विभूतियाँ अनंत हैं, उनमेंसे थोड़ी खास-खास तुमसे कह देता हूँ। सब प्राणियोंके हृदयमें रहा हुआ मैं हूँ। मैं ही उनकी उत्पत्ति, उनका मध्य और उनका अंत हूँ। आदित्योंमें विष्णु मैं, उज्ज्वल वस्तुओंमें प्रकाश देनेवाला सूर्य मैं, वायुओंमें मरीचि मैं, नक्षत्रोंमें चंद्र मैं, वेदोंमें सामवेद मैं, देवोंमें इंद्र मैं, इंद्रियोंमें मन मैं, प्राणियोंमें चेतनशक्ति मैं, रुद्रमें शंकर मैं, यक्ष-रक्षसोंमें कुबेर मैं, दैत्योंमें प्रह्लाद मैं, पशुओंमें सिंह मैं, पक्षियोंमें गरुड़ मैं और छल करनेवालोंमें द्यूत (जुआ) भी मुझे ही जान। इस

जगत्में जो कुछ होता है, वह मेरी मरजी बिना हो ही नहीं सकता। अच्छा और बुरा भी मैं ही होने देता हूँ, तभी होता है। यह जानकर मनुष्यको अभिमान छोड़ना चाहिए और बुरेसे बचना चाहिए, क्योंकि भले-बुरेका फल देनेवाला भी मैं हूँ। तू इतना जान कि यह सारा जगत् मेरी विभूतिके एक अंशमात्रसे स्थित है।

ग्यारहवाँ अध्याय

सोम-प्रभात

१२-१-१९३१

अर्जुनने विनय की : "भगवन्, आपने मुझे आत्माके विषयमें जो वचन कहे, उससे मेरा मोह दूर हो गया है। आप ही सब हैं, आप ही कर्ता हैं, आप ही संहर्ता हैं, आप नाशरहित हैं। यदि संभव हो तो अपने ईश्वरी रूपका दर्शन मुझे कराइये।"

भगवान् बोले : "मेरे रूप हजारों हैं और अनेक रंगवाले हैं। उसमें आदित्य, वसु, रुद्र इत्यादि समाये हुए हैं। मुझमें सारा जगत् - चर और अचर - समाया हुआ है। यह रूप तू अपने चर्म-चक्षुओंसे नहीं देख सकता। अत: मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ, उनके द्वारा तू देख।

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा : हे राजन् भगवान्ने अर्जुनको यह कहकर अपना जो अद्भुत रूप दिखाया, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। हम लोग नित्य एक सूर्य देखते हैं, पर खयाल कीजिये कि ऐसे हजारों सूर्य नित्य उगें तो उनका तेज जैसा होगा, उससे भी अधिक यह तेज चका-चौंध पैदा करनेवाला था। इसके आभूषण और वस्त्र भी ऐसे ही दिव्य थे। उसके दर्शन करके अर्जुनके रोएँ खड़े हो गये, उसका सिर चकराने लगा और काँपते-काँपते वह स्तुति करने लगा :

हे देव ! आपकी इस विशाल देहमें मैं तो सब कुछ और सब किसीको देखता हूँ। ब्रह्मा उसमें हैं, महादेव उसमें हैं, उसमें ऋषि हैं, सर्प हैं, आपके हाथ-मुँहका गिनना कठिन है। आपका आदि नहीं है, अंत नहीं है, मध्य नहीं है। आपका रूप मानो तेजका सुमेरु है। देखते आँखें चौंधिया जाती हैं, सुलगते हुए अंगारोंकी भाँति आप झलक रहे हैं और तप रहे हैं। आप ही जगत्के आधार हैं, आप ही पुराण-पुरुष हैं, आप ही धर्मके रक्षक हैं। जहाँ देखता हूँ, वहाँ आपके अवयव दिखाई दे रहे हैं। सूर्य-चंद्र तो आपकी आँखों-सरीखे जान पड़ते हैं। आपने ही इस पृथ्वी और आकाशको व्याप्त कर रखा है। आपका तेज सारे जगत्को तपा रहा है। यह जगत् थरथरा रहा है। देव, ऋषि, सिद्ध इत्यादि सब हाथ जोड़कर काँपते हुए आपकी स्तुति कर रहे हैं। यह विराट् रूप और यह तेज देखकर मैं तो व्याकुल हो गया हूँ, शांति और धैर्य छूटा जा रहा है। हे देव ! प्रसन्न होइये। आपकी दाढ़ें विकराल हैं, आपके मुँहमें, जैसे

दीपकपर पतंगे गिरते हैं, वैसे इन लोगोंको गिरते देख रहा हूँ और आप उनको चूर कर रहे हैं। यह उग्र रूप आप कौन हैं? आपकी प्रवृत्तिको मैं समझ नहीं पा रहा हूँ।

भगवान् बोले : लोकोंका नाश करनेवाला मैं काल हूँ। तू चाहे लड़ या न लड़, इन सबका नाश समझ। तू तो निमित्तमात्र है।

अर्जुन बोला : हे देव, हे जगन्निवास, आप अक्षर हैं, सत् हैं, असत् हैं और उससे जो परे है, वह भी आप ही हैं। आप आदिदेव हैं, आप पुराणपुरुष हैं, आप इस जगत् के आश्रय हैं। आप ही जानने योग्य हैं। वायु, यम, अग्नि, प्रजापति भी आप ही हैं। आपको हजारों नमस्कार पहुँचें। अब अपना मूल रूप धारण कीजिये।

इसपर भगवान् ने कहा : तेरे ऊपर प्रसन्न होकर मैंने तुझे अपना विश्वरूप दिखाया है। वेदाभ्याससे, यज्ञसे, अन्य शास्त्रोंके अभ्याससे, दानसे, तपसे भी यह रूप नहीं देखा जा सकता, जो तूने आज देखा है। इसे देखकर तू परेशान मत हो। भय त्यागकर शांत हो और मेरा परिचित रूप देख। मेरे यह दर्शन देवोंको भी दुर्लभ हैं। यह दर्शन केवल शुद्ध भक्तिसे ही हो सकते हैं। जो अपने सब कर्म मुझे समर्पण करता है, मुझमें परायण रहता है, मेरा भक्त बनता है, आसक्तिमात्रको छोड़ता है और प्राणीमात्रके विषयमें प्रेममय रहता है, वही मुझे पाता है।

टिप्पणी : दसवेंकी भाँति इस अध्यायको भी मैंने जान-बूझकर संक्षिप्त किया है। यह अध्याय काव्यमय है। इसलिए या तो मूलमें अथवा अनुवादरूपमें जैसा है, वैसा ही बार-बार पढ़ने योग्य है। इससे भक्तिका रस उत्पन्न होनेकी संभावना है। वह रस पैदा हुआ है या नहीं, यह जाननेकी कसौटी अंतिम श्लोक है। सर्वार्पण बिना और सर्वव्यापक प्रेमके बिना भक्ति नहीं है। ईश्वरके कालरूपका मनन करनेसे और उसके मुखमें सृष्टिमात्रको समा जाना है—प्रतिक्षण कालका यह काम चलता ही रहता है—इसका भान आ जानेसे सर्वार्पण और जीवमात्रके साथ ऐक्य अनायास हो जाता है। चाहे, बिनचाहे, इस मुखमें हम अकल्पित क्षणमें पड़नेवाले हैं। वहाँ छोटे-बड़ेका, नीच-ऊँचका, स्त्री-पुरुषका, मनुष्य-मनुष्येतरका भेद नहीं रहता है। सब कालेश्वरके एक कौर हैं, यह जानकर हम क्यों दीन, शून्यवत् न बनें, क्यों सबके साथ मैत्री न करें? ऐसा करनेवालेको वह काल-स्वरूप भयंकर नहीं, बल्कि शांति-स्थल लगेगा।

बारहवाँ अध्याय

मंगल-प्रभात

४-११-१९३०

आज तो बारहवें अध्यायका सार देना चाहता हूँ।[१] यह भक्तियोग है। विवाहके अवसरपर दंपतीको पाँच यज्ञोंमें इसे भी एक यज्ञरूपसे कंठ करके मनन करनेको हम कहते हैं। भक्तिके बिना ज्ञान तथा कर्म शुष्क हैं और उनके बंधनरूप हो जानेकी संभावना है। इसलिए भक्ति-भावसे गीताका यह मनन आरंभ करना चाहिए।

अर्जुनने भगवान् से पूछा : साकार और निराकारको पूजनेवाले भक्तोंमें अधिक श्रेष्ठ कौन हैं?

भगवान् ने उत्तर दिया : जो मेरे साकार रूपका श्रद्धापूर्वक मनन करते हैं, उसमें लीन होते हैं, वे श्रद्धालु मेरे भक्त हैं, पर जो निराकार तत्त्वको भजते हैं और उसे भजनेके लिए समस्त इंद्रियोंका संयम करते हैं, सब जीवोंके प्रति समभाव रखते हैं, उनकी सेवा करते हैं, किसीको ऊँच-नीच नहीं गिनते, वे भी मुझे पाते हैं। इसलिए यह नहीं कह सकते कि दोनोंमें अमुक श्रेष्ठ है, पर निराकारकी भक्ति शरीरधारीद्वारा संपूर्ण रूपसे होना अशक्य माना जाता है, निराकार निर्गुण है, अत: मनुष्यकी कल्पनासे परे है। इसलिए सब देहधारी जाने-अनजाने साकारके ही भक्त हैं। सो तू तो मेरे साकार विश्वरूपमें ही अपना मन पिरो। सब उसे सौंप दे। पर यह न कर सकता हो तो चित्तके विकारोंको रोकनेका अभ्यास कर, यानी यम-नियम आदिका पालन करके, प्राणायाम, आसन आदिकी मदद लेकर मनको वशमें कर। ऐसा भी न कर सकता हो तो जो कुछ करता है सो मेरे ही लिए करता है, इस धारणासे अपने सब काम कर तो तेरा मोह, तेरी ममता क्षीण होती जायगी और त्यों-त्यों तू निर्मल - शुद्ध - होता जायगा और तुझमें भक्तिरस आ जायगा। यह भी न हो सकता हो तो कर्ममात्रके फलका त्याग करके यानी फलकी इच्छा छोड़ दे। तेरे हिस्सेमें जो काम आ पड़े, उसे करता रह। फलका मालिक मनुष्य हो ही नहीं सकता। बहुतेरे अंगोंके एकत्र होनेपर तब फल उपजता है, अत: तू केवल निमित्तमात्र हो जा। जो चार रीतियाँ मैंने बतायी हैं, उनमें किसीको कमोबेश मत मानना। इनमें जो तुझे अनुकूल हो, उससे तू भक्तिका रस ले ले। ऐसा लगता है कि ऊपर जो यम-नियम, प्राणायाम, आसन आदिका मार्ग बता आये हैं, उनकी

अपेक्षा श्रवण-मनन आदि ज्ञानमार्ग सरल हैं। उसकी अपेक्षा उपासनारूप ध्यान और ध्यानकी अपेक्षा कर्मफल-त्याग सरल है। सबके लिए एक ही वस्तु समानभावसे सरल नहीं होती और किसी-किसीको सभी मार्ग लेने पड़ते हैं। वे एक-दूसरेके साथ मिले-जुले तो हैं ही। चाहे जिस मार्गसे हो, तुझे तो भक्त होना है। जिस मार्गसे भक्ति सधे, उस मार्गसे उसे साध। मैं तुझे भक्तके लक्षण बतलाता हूँ - भक्त किसीका द्वेष न करे, किसीके प्रति वैर-भाव न रखे, जीवमात्रसे मैत्री रखे, जीवमात्रके प्रति करुणाका अभ्यास करे, ऐसा करनेके लिए ममता छोड़े, अपनापन मिटाकर शून्यवत् हो जाय, दुःख-सुखको समान माने। कोई दोष करे तो उसे क्षमा करे, (यह जानकर कि स्वयं अपने दोषोंके लिए संसारसे क्षमाका भूखा है) संतोषी रहे, अपने शुभ निश्चयोंसे कभी विचलित न हो। मन-बुद्धिसहित सर्वस्व मेरे अर्पण करे। उससे लोगोंको उद्वेग नहीं होना चाहिए, न लोग उससे डरें, वह स्वयं लोगोंसे दुःख न माने, न डरे। मेरा भक्त हर्ष, शोक, भय आदिसे मुक्त होता है। उसे किसी प्रकारकी इच्छा नहीं होती, वह पवित्र होता है, कुशल होता है, वह बड़े-बड़े आरम्भोंको त्यागे हुए होता है, निश्चयमें दृढ़ होते हुए भी शुभ और अशुभ परिणाम, दोनोंका वह त्याग करता है, अर्थात् उसके बारेमें निश्चिंत रहता है। उसके लिए शत्रु कौन और मित्र कौन? उसे मान क्या, अपमान क्या? वह तो मौन धारण करके जो मिल जाय, उससे संतोष रखकर एकाकीकी भाँति विचरता हुआ सब स्थितियोंमें स्थिर होकर रहता है। इस भाँति श्रद्धालु होकर चेलनेवाला मेरा भक्त है।

टिप्पणी :

प्रश्न : 'भक्त आरंभ न करे' का क्या मतलब है, कोई दृष्टांत देकर समझाइयेगा ?

उत्तर : 'भक्त आरंभ न करे' इसका मतलब यह है कि किसी भी व्यवसायके मनसूबे न गाँठे। जैसे एक व्यापारी आज कपड़ेका व्यापार करता है तो कल उसमें लकड़ीका और शामिल करनेका उद्यम करने लगा, अथवा कपड़ेकी एक दूकान है तो कल पाँच और दूकानें खोल बैठा, इसका नाम आरम्भ है। भक्त उसमें न पड़े। यह नियम सेवाकार्यके बारेमें भी लागू होता है। आज खादीकी मारफत सेवा करता है तो कल गायकी मारफत, परसों खेतीकी मारफत और चौथे दिन डॉक्टरीकी मारफत। इस प्रकार सेवक भी फुदकता न फिरे। उसके हिस्सेमें जो आ जाय, उसे पूरी तरह करके मुक्त हो। जहाँ 'मैं' गया, वहाँ 'मुझे" क्या करनेको रह जाता है?

"सूतरने तांतणे मने हरजीए बांधी,

जेम ताणे तेम तेमनी रे

मने लागी कटारी प्रेमनी रे।"[२]

भक्तके सब आरंभ भगवान् रचता है। उसे सब कर्म प्रवाहप्राप्त होते हैं, इससे वह 'संतुष्टो येन केनचित्' रहे। सर्वारंभत्यागका भी यही अर्थ है। सर्वारंभ अर्थात् सारी प्रवृत्ति या काम नहीं, बल्कि उन्हें करनेके विचार, मनसूबे गाँठना। उनका त्याग करनेके मानी उनका आरंभ न करना, मनसूबे गाँठनेकी आदत हो तो उसे छोड़ देना। 'इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्' यह आरंभ त्यागका उलटा है। मेरे खयालमें तुम जो जानना चाहते हो, सब इसमें आ जाता है। कुछ बाकी रह गया हो तो पूछना।

---

१. गांधीजीने यह अध्याय सबसे पहले लिखकर भेजा था। पर अध्याय-क्रमके लिए यह यथास्थान दिया गया है।–संपादक

२. मुझे भगवान् ने सूतके धागेसे बाँध लिया है। ज्यों-ज्यों तानते हैं, मैं उनकी होती जाती हूँ। मुझे तो प्रेम-कटारी लगी है।

तेरहवाँ अध्याय

सोम-प्रभात

२६-१-१९३२

श्री भगवान् बोले : इस शरीरका दूसरा नाम क्षेत्र है और उसके जाननेवालेको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। सब शरीरमें मौजूद जो मैं (भगवान्) हूँ, उसे क्षेत्रज्ञ समझ, और वास्तविक ज्ञान वह है कि जिससे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद जाना जाय। पंच महाभूत—पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु, अहंता, बुद्धि, प्रकृति, दस इंद्रियाँ - पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ - एक मन, पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, संघात अर्थात् शरीर जिससे बना हुआ है उसकी एक होकर रहनेकी शक्ति, शरीरके परमाणुओंमें एक-दूसरेसे चिपटे रहनेका गुण, यह सब मिलकर विकारोंवाला क्षेत्र बना। इस शरीरको और उसके विकारोंको जानना चाहिए, क्योंकि उनको त्यागना है। इस त्यागके लिए ज्ञान चाहिए। यह ज्ञान अर्थात् मानीपनेका त्याग, दंभका त्याग, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु-सेवा, शुद्धता, स्थिरता, विषयोंपर अंकुश, विषयोंमें वैराग्य, अहंकारका त्याग, जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और उसके सिलसिलेमें रहे हुए रोगसमूह, दु:खसमूह और नित्य होनेवाले दोषोंका पूरा भान, स्त्री-पुत्र, घर-द्वार, सगे-सम्बन्धी इत्यादिमेंसे मनको खींच लेना और ममता छोड़ना, अपने मनोनुकूल कुछ हो या मनके प्रतिकूल - उसमें समता रखना, ईश्वरकी अनन्य भक्ति, एकान्तसेवन, लोगोंमें मिलकर भोग भोगनेकी ओर अरुचि, आत्माके विषयमें ज्ञानकी प्यास और अंतमें आत्मदर्शन। इससे विपरीतका नाम अज्ञान है। इस ज्ञानके साधनसे जो जाननेकी चीज है - ज्ञेय है और जिसे जाननेसे मोक्ष मिलता है, उसके विषयमें थोड़ा सुन। यह ज्ञेय अनादि परब्रह्म है। अनादि है - अर्थात् उसे जन्म नहीं है - जब कुछ नहीं था, तब भी वह परब्रह्म तो था। वह सत् नहीं है और असत् भी नहीं है। उससे भी परे है। अन्य दृष्टिसे उसे सत् कह सकते हैं, क्योंकि वह नित्य है। तथापि उसकी नित्यताको भी मनुष्य नहीं पहचान सकता, इससे उसे सत् से भी परे कहा, उससे कुछ भी सूना नहीं है। उसे हजारों हाथ-पाँवोंवाला कह सकते हैं और इस प्रकार उसे हाथ-पैर आदि हैं, यह जान पड़ते हुए भी वह इंद्रियरहित है, उसे इंद्रियोंकी आवश्यकता नहीं है, उनसे वह अलिप्त है। इंद्रियाँ तो आज हैं और कल नहीं हैं। परब्रह्म तो नित्य है ही और यद्यपि वह सबमें व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है, इससे गुणोंका भोक्ता कहा जा सकता है, तथापि जो उसे नहीं पहचानते, उनके हिसाबसे तो वह बाहर

ही है। प्राणियोंके अन्दर तो वह है ही, क्योंकि सर्वव्यापक है। वैसे ही वह गति करता है और स्थिर भी है। सूक्ष्म है, इसलिए वह ऐसा भी है कि न जान पड़े। दूर भी है और नजदीक भी है। नाम-रूपका नाश है, तथापि वह तो है ही, इस प्रकार अविभक्त है; पर असंख्य प्राणियोंमें है, यह भी कहते हैं, इससे वह विभक्तरूपसे भी भासित होता है। वह उत्पन्न करता है, पालता है और वही मारता है। तेजोंका तेज है, अंधकारसे परे है, ज्ञानका किनारा उसमें आ गया है। इन सबमें मौजूद परब्रह्म यही जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है। ज्ञानमात्रकी प्राप्ति केवल उसकी प्राप्तिके लिए ही है।

प्रभु और उसकी माया दोनों अनादिसे चलते आये हैं। मायामेंसे विकार पैदा होते हैं और उनसे अनेक प्रकारके कर्म पैदा होते हैं। मायाके कारण जीव सुख-दुःख, पाप-पुण्यका भोगनेवाला बनता है। यह जानकर जो अलिप्त रहकर कर्तव्य-कर्म करता है, वह कर्म करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता; क्योंकि वह सर्वत्र ईश्वरको देखता है और उसकी प्रेरणाके बिना एक पत्तातक नहीं हिल सकता, यह जानकर वह अपने बारेमें अहंताको नहीं मानता है, अपनेको शरीरसे अलग देखता है और समझता है कि जैसे आकाश सर्वत्र होते हुए भी निर्लिप्त ही रहता है, वैसे जीव शरीरमें रहते हुए भी ज्ञानद्वारा निर्लिप्त रह सकता है।

चौदहवाँ अध्याय

मौनवार

२५-१-१९३२

श्री भगवान् बोले : जिस उत्तम ज्ञानको पाकर ऋषि-मुनियोंने परम सिद्धि पायी है, वह मैं तुझसे फिर कहता हूँ। उस ज्ञानके पाने और उसके अनुसार धर्मका आचरण करनेसे लोग जन्म-मरणके चक्करसे बच जाते हैं। हे अर्जुन, यह समझ कि मैं जीवमात्रका माता-पिता हूँ। प्रकृतिजन्य तीन गुण - सत्त्व, रजस् और तमस् - देहीको बाँधनेवाले हैं। इन गुणोंको उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भी कह सकते हैं। इनमें सत्त्वगुण निर्मल और निर्दोष है, प्रकाश देनेवाला है और इससे उसका संग सुखद होता है। रजस् रागसे, तृष्णासे पैदा होता है और वह मनुष्यको गड़बड़में डालता है। तमस्का मूल अज्ञान है, मोह है और इससे मनुष्य प्रमादी और आलसी बनता है। अत: संक्षेपमें कहा जाय तो सत्त्वमेंसे सुख, रजस् में से तृष्णादि और तमस्मेंसे आलस्य पैदा होता है। रजस् और तमस्को दबाकर सत्त्व जय प्राप्त करता है और सत्त्व और रजस्को दबाकर तमस् जय पाता है। देहके सब कामोंमें जब ज्ञानका अनुभव देखनेमें आये, तब यह जानना कि अब सत्त्वगुण प्रधान रूपसे काम कर रहा है। जब लोभ, गड़बड़, अशांति, प्रतिद्वंद्विता दिखाई दे, तब रजस्की वृद्धि जानो और जब अज्ञान, आलस्य, मोहका अनुभव हो, तब समझो कि तमस्का राज्य है। जिसके जीवममें सत्त्वगुण प्रधान होता है, वह मृत्युके अंतमें ज्ञाममय निर्दोष लोकमें जन्म पाता है, रजस्-प्रधान जो होता है, वह धाँधली (गड़बड़) लोकमें जाता है और तमस्-प्रधान मूढ़ योनिमें जन्मता है। सात्त्विक कर्मका फल निर्मल, राजसका दु:खमय और तामसका अज्ञानमय होता है। सात्त्विक लोककी उच्चगति, राजसकी मध्यम और तामसकी अधोगति होती है। मनुष्य जब गुणोंके सिवा दूसरेको कर्ता नहीं समझता और गुणोंसे परे जो मैं हूँ उसे जानता है, तब वह मेरे भावको पाता है। देहमें विद्यमान इन तीन गुणोंको जो देही पार कर जाता है, वह जन्म, जरा और मृत्युके दु:खोंसे छूटकर अमृतमय मोक्षको प्राप्त होता है।

अर्जुन पूछता है : गुणातीतकी ऐसी सुन्दर गति होती है तो बतलाइये कि इसके लक्षण कैसे हैं, इसका आचरण कैसा है और तीनों गुणोंको किस प्रकार पार किया जाय?

भगवान् उत्तर देते हैं : जो मनुष्य अपनेपर जो आ पड़े, फिर भले ही प्रकाश हो या प्रवृत्ति हो, या मोह हो, ज्ञान हो, गड़बड़ हो या अज्ञान, उसका अतिशय दु:ख या सुख न मान या इच्छा न करे; जो गुणोंके बारेमें तटस्थ रहकर विचलित नहीं होता, गुण अपने गुणानुसार बरतते हैं, यह समझकर जो स्थिर रहता है; जो सुख-दु:खको सम मानता है; जिसे लोहा, पत्थर या सोना समान है; जिसे प्रिय-अप्रियकी बात नहीं है; जिसपर अपनी स्तुति या निंदा कोई प्रभाव नहीं डाल सकती, जिसे मान-अपमान समान है; जो शत्रु-मित्रके प्रति समभाव रखता है; जिसने सब आरंभोंका त्याग किया है, वह गुणातीत कहलाता है। मेरे बताये इन लक्षणोंसे भड़कनेकी जरूरत नहीं है, न आलसी होकर सिरपर हाथ रखकर बैठ जानेकी। मैंने तो सिद्धकी दशा बतलायी है। वहाँतक पहुँचनेका मार्ग यह है - व्यभिचार-रहित भक्तियोगके द्वारा मेरी सेवा कर। (तीसरे अध्यायसे लगाकर) तुझे बताया है कि कर्म बिना, प्रवृत्ति बिना कोई साँसतक नहीं ले सकता, अत: कर्म तो देहीमात्रको लगे हुए हैं। जो गुणोंको पार कर जाना चाहता है, वह साधक सब कर्म मुझे अर्पण करे और फलकी इच्छातक भी न करे। ऐसा करनेमें उसके कर्म उसे विघ्नरूप नहीं होंगे; क्योंकि ब्रह्म मैं हूँ मोक्ष मैं हूँ, सनातन धर्म मैं हूँ, अनंत सुख मैं हूँ, जो कहो, वह मैं हूँ। मनुष्य शून्यवंत् हो जाय तो मुझे ही सर्वत्र देखे, इसे गुणातीत कहेंगे।

पन्द्रहवाँ अध्याय

रातको

३१-१-१९३२

श्री भगवान् बोले : इस संसारको दो तरहसे देखा जा सकता है - एक इस तरह : जिसकी जड़ ऊपर है, जिसकी शाखा नीचे है और जिसे वेदरूपी पत्ते हैं; ऐसे पीपलके रूपमें जो संसारको देखता है, वह वेदको जाननेवाला ज्ञानी है। दूसरी रीति यह है : संसाररूपी वृक्षकी शाखाएँ ऊपर-नीचे फैली हुई हैं। उसके तीन गुणोंसे बढ़े हुए विषयरूपी अंकुर हैं और वे विषय जीवको मनुष्य-लोकमें कर्मके बंधनमें डालते हैं। इस वृक्षका स्वरूप नहीं जाना जा सकता, उसका आरंभ नहीं है, न अंत है, न कोई ठिकाना।

वह दूसरे प्रकारका संसार-वृक्ष है। उसने यद्यपि जड़ गहरी पकड़ी है, तथापि उसे असहकाररूपी शस्त्रसे काटना चाहिए कि जिससे आत्माको वह लोक प्राप्त हो सके, जहाँसे उसे वापस चक्कर न करना पड़े। ऐसा करनेके लिए वह निरंतर उस आदिपुरुषको भजे कि जिसकी मायासे यह पुरानी प्रवृत्ति पसरी हुई है। जिन्होंने मान-मोहको छोड़ दिया है, जिन्होंने संग-दोषको जीत लिया, जो आत्मामें लीन हैं, जो विषयोंसे अलग हो गये हैं, जिन्हें सुख-दु:ख समान है, वह ज्ञानी उस अव्यय पदको पाते हैं।

इस जगह सूर्यको या चंद्रको या अग्निको तेज पहुँचानेकी जरूरत नहीं पड़ती। जहाँ जानेके बाद लौटना नहीं रह जाता, वह मेरा परमधाम है।

जीवलोकमें मेरा सनातन अंश जीवरूपमें, प्रकृतिमें विद्यमान मनसहित छह इंद्रियोंको आकर्षित करता है। जब जीव देह धारण करता है और तजता है तब, जैसे वायु अपने स्थलसे गंधोंको साथ लिये चलता है, यह जीव भी इंद्रियोंको साथ लिये हुए विचरता है। कान, आँख, त्वचा, जीभ और नाक तथा मन इतनोंका सहारा लेकर जीव विषयोंका सेवन करता है। गति करते हुए, स्थिर रहते हुए या भोग भोगते हुए गुणोंवाले इस जीवको मोहमें पड़े हुए अज्ञानी पहचानते नहीं, ज्ञानी पहचानते हैं। यत्न करनेवाले योगी अपनेमें विद्यमान इस जीवको पहचानते हैं, पर जिसने समभावरूपी योगको नहीं साधा है, वह यत्न करता हुआ भी उसे पहचानता नहीं है।

सूर्यका जो तेज जगत्को प्रकाशित करता है, जो चन्द्रमामें है, जो अग्निमें है, उन सारे तेजोंको मेरा तेज जान। अपनी शक्तिद्वारा शरीरमें प्रवेश करके मैं जीवोंको धारण करता हूँ। रस उत्पन्न करनेवाला सोम बनकर ओषधिमात्रका पोषण करता हूँ। प्राणियोंकी देहमें रह करके जठराग्नि बनकर प्राण, अपान वायुको समान करके चार प्रकारका अन्न पचाता हूँ। सबके हृदयके भीतर विद्यमान हूँ। मेरे द्वारा ही स्मृति है, ज्ञान है, उसका अभाव है, सब वेदोंके द्वारा जानने योग्य जो है, वह मैं हूँ। वेदान्त भी मैं हूँ, वेदान्तको जाननेवाला भी मैं हूँ।

इस लोकमें कहा जाता है कि दो पुरुष हैं - क्षर और अक्षर अथवा नाशवान् और नाशरहित। इनमें जीव क्षर कहलाते हैं, उनमें स्थिर हुआ मैं अक्षर हूँ, और उससे भी परे जो उत्तम पुरुष है, वह परमात्मा कहलाता है। वह अव्यय ईश्वर तीनों लोकमें प्रवेश करके उसका पालन करता है, वह भी मैं हूँ; इससें मैं क्षर और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, और लोकमें, वेदमें, पुरुषोत्तमरूपसे प्रसिद्ध हूँ। इस प्रकार जो ज्ञानी मुझे पुरुषोत्तमरूपसे पहचानता है, वह सब जानता है और मुझे सब भावोंद्वारा भजता है।

हे निष्पाप अर्जुन, यह अति गुह्य शास्त्र मैंने तुझे कहा है। इसे जानकर मनुष्य बुद्धिमान् बनता है और अपने ध्येयको पहुँचता है।

सोलहवाँ अध्याय

यरवदा मंदिर

७-२-१९३२

श्री भगवान् कहते हैं : अब मैं तुझे धर्मवृत्ति और अधर्मवृत्तिका भेद बतलाता हूँ। धर्मवृत्तिके बारेमें तो मैं पहले बहुत कह गया हूँ, तो भी उसके लक्षण कह जाता हूँ। जिसमें धर्मवृत्ति होती है, उसमें निर्भयता, अंतःकरणकी शुद्धि, ज्ञान, समता, इंद्रिय-दमन, यज्ञ, शास्त्रोंका अभ्यास, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शांति, किसीकी चुगली न खाना अर्थात् अपैशुन्यता, भूतमात्रके प्रति दया, अलोलुपता, कोमलता, मर्यादा, अचंचलता, तेज, क्षमा, धीरज, अंतर और बाहरकी स्वच्छता, अद्रोह और निरभिमानता होती है।

अधर्म वृत्तिवालेमें दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान देखनेमें आता है।

धर्मवृत्ति मनुष्यको मोक्षकी ओर ले जाती है। अधर्मवृत्ति बंधनमें डालती है। हे अर्जुन, तू तो धर्मवृत्ति लेकर ही जनमा है।

अधर्मवृत्तिका थोड़ा विस्तार कह देता हूँ कि जिससे उसका त्याग सहजमें लोग कर सकें।

अधर्मवृत्तिवाला प्रवृत्ति और निवृत्तिका भेद नहीं जानता है, उसे शुद्ध-अशुद्धका या सत्यासत्यका भान नहीं होता तो फिर उसके बर्तावका तो ठिकाना ही कहाँसे होगा? उसके मन जगत् झूठा, निराधार है, जगत्का कोई नियंता नहीं है, स्त्री-पुरुषका संबंध ही उसका जगत् है, अत: इसमें विषय-भोगके सिवा दूसरा विचार नहीं मिलता।

ऐसी वृत्तिवालोंके कार्य भयानक होते हैं, उनकी मति मंद होती है, ऐसे लोग अपने दुष्ट विचारोंको पकड़े रहते हैं और जगत् के नाशके लिए ही उनकी सब प्रवृत्तियाँ होती हैं। उनकी कामनाओंका अंत ही नहीं आता। वे दंभ, मान, मदमें भूले रहते हैं। उनकी चिंताका भी पार नहीं होता। उन्हें नित्य नये भोग चाहिए। सैकड़ों आशाओंके महल चुनते रहते हैं और अपनी कामनाके पोषणके लिए द्रव्य एकत्र करनेमें न्याय-अन्यायका भेद बिलकुल छोड़ देते हैं।

आज यह पाया और कल वह और प्राप्त करूँगा; इस शत्रुको आज मारा, फिर दूसरेको मारूँगा; मैं बलवान हूँ; मेरे पास ऋद्धि-सिद्धि है; मेरे समान दूसरा कौन है; कीर्ति-प्राप्तिके लिए यज्ञ करूँगा; दान दूँगा और चैनकी वंशी बजाऊँगा; यों मन-ही-मन मानता हुआ वह खुश होता रहता है और अन्तमें मोह-जालमें फँसकर नरकवास पाता है।

ये आसुरी वृत्तिवाले प्राणी अपने घमंडमें भूले रहकर परनिंदा करते हुए सर्वव्यापक ईश्वरका द्वेष करते हैं और इससे वह बार-बार आसुरी योनिमें जन्मते हैं।

नरकके, आत्माको नाश करनेवाले, ये तीन दरवाजे हैं - काम, क्रोध और लोभ। सबको इन तीनोंका त्याग करना चाहिए। उनका त्याग करनेवाले कल्याणमार्गके पथिक होते हैं और वे परमगतिको पाते हैं।

जो अनादि सिद्धांतरूपी शास्त्रोंका त्याग करके स्वेच्छासे भोगमें पड़े रहते हैं, वे न सुख पाते हैं और न कल्याण मार्गमें रहकर शांति पाते हैं। इससे कार्य-अकार्यका निर्णय करनेमें अनुभवियोंसे अचल सिद्धांत जान लेने चाहिए और उनका अनुसरण करके आचार-विचारका निश्चय करना चाहिए।

सत्रहवाँ अध्याय

यरवदा मंदिर

१४-२-१९३२

अर्जुन पूछता है—जो शिष्टाचार छोड़कर भी श्रद्धापूर्वक सेवा करते हैं, उनकी गति कैसी होती है?

भगवान् उत्तर देते हैं—श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। श्रद्धाके अनुसार मनुष्य होता है।

सात्त्विक मनुष्य ईश्वरको, राजस यक्ष-राक्षसोंको और तामस भूत-प्रेतोंको भजता है।

पर किसीकी श्रद्धा कैसी है, यह एकाएक नहीं जाना जा सकता। उसका आहार कैसा है, उसका तप कैसा है, यज्ञ कैसा है, दान कैसा है, यह जानना चाहिए और उन सबके भी तीन-तीन प्रकार हैं, जो बतलाता हूँ।

जिस आहारसे आयु, निर्मलता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढ़ती है, वह आहार सात्त्विक कहलाता है। जो तीखा, खट्टा, चरपरा और गरम होता है, वह राजस है। उससे दु:ख और रोग उत्पन्न होते हैं। जो रींधा हुआ आहार बासी हो, बदबू करता हो, जूठा हो और अन्य प्रकारसे अपवित्र हो, उसे तामस जानना।

जिस यज्ञके करनेमें फलकी इच्छा नहीं है, जो कर्तव्यरूपसे तन्मयतासे होता है, वह सात्त्विक माना जाता है; जिसमें फलकी आशा है और दंभ भी है, उसे राजस यज्ञ जानना; जिसमें कोई विधि नहीं है, न कुछ उपज है, न कोई मंत्र है, न कोई त्याग है, वह यज्ञ तामस है।

जिसमें संतोंकी पूजा है, पवित्रता है, ब्रह्मचर्य है, अहिंसा है, वह शारीरिक तप है। सत्य, प्रिय, हितकर वचन और धर्म-ग्रन्थका अभ्यास वाचिक तप है। मनकी प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, संयम, शुद्ध भावना, यह मानसिक तप कहलाता है। ऐसा शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप, जो समभावसे फलेच्छाका त्याग करके किया जाता है, वह सात्त्विक तप कहलाता है। जो तप मानकी आशासे,

दंभपूर्वक किया जाता है, उसे राजस जानना और जो तप पीड़ित होकर और दुराग्रहसे या दूसरेके नाशके लिए किया जाय, जिसमें शरीरस्थ आत्माको क्लेश हो, वह तप तामस है।

कर्तव्य-बुद्धिसे दिया गया, बिना फलेच्छाके देश, काल, पात्र देखकर दिया गया दान सात्त्विक है। जिसमें बदलेकी आशा है और जिसे देते हुए संकोच हो, वह दान राजस है और देश-कालादिका विचार किये बिना, तिरस्कृत भावसे या मान बिना दिया हुआ दान तामस है।

वेदोंने ब्रह्माका वर्णन ॐतत्सत् रूपसे किया है, अत: श्रद्धालुको चाहिए कि यज्ञ, दान, तप आदि क्रिया इसका उच्चारण करके करे। ॐ अर्थात् एकाक्षरी ब्रह्म। तत् अर्थात् वह सत् अर्थात् सत्य, कल्याणरूप। मतलब कि ईश्वर एक है, यही है, यही सत्य है, यही कल्याण करनेवाला है। ऐसी भावना रखकर और ईश्वरार्पणबुद्धिसे जो यज्ञादि करते हैं, उनकी श्रद्धा सात्त्विक है और वह शिष्टाचारको न जाननेके कारणसे अथवा जानते हुए भी, ईश्वरार्पणबुद्धिसे उससे कुछ भिन्न करते हैं, तथापि वह दोषरहित है।

पर जो क्रिया ईश्वरार्पणबुद्धिके बिना होती है, वह बिना श्रद्धाकी मानी जाती है। वह असत् है।

अठारहवाँ अध्याय

यरवदा मंदिर

२१-२-१९३२

पिछले सोलह अध्यायोंके मननके बाद भी अर्जुनके मनमें शंका बनी रह जाती है; क्योंकि गीताका संन्यास उसे प्रचलित संन्याससे भिन्न लगता है। उसे लगता है, त्याग और संन्यास दो अलग-अलग चीजें हैं क्या !

इस शंकाका निवारण करते हुए भगवान् इस अंतिम अध्यायमें गीता-शिक्षणका सार दे देते हैं।

कितने ही कर्मोंमें कामना भरी होती है; अनेक प्रकारकी इच्छाओंकी पूर्तिके लिए मनुष्य अनेक उद्यम रचता है। यह काम्य कर्म है। अन्य आवश्यक और स्वाभाविक कर्म हैं, जैसे साँस लेना, देहकी रक्षाभरको खाना, पीना, पहनना, ओढ़ना, सोना इत्यादि। और तीसरा कर्म पारमार्थिक है। इनमेंसे काम्य कर्मका त्याग गीताका संन्यास है और कर्ममात्रके फलका त्याग गीता-मान्य त्याग है।

कह सकते हैं कि कर्ममात्रमें कुछ दोष तो अवश्य हैं ही, तथापि यज्ञार्थ अर्थात् परोपकारार्थ कर्मका त्याग विहित नहीं है। यज्ञमें दान और तप आ जाते हैं; पर परमार्थमें भी आसक्ति, मोह नहीं होना चाहिए, अन्यथा उसमें बुराईके घुस आनेकी संभावना है :

मोहवश नियत कर्मका त्याग तामस त्याग है। देहके कष्टके खयालसे किया हुआ त्याग राजस है; पर सेवा-कार्य करनेकी भावनासे, बिना फलकी इच्छाका त्याग सच्चा सात्त्विक त्याग है। अत: यहाँ कर्ममात्रका त्याग नहीं है, बल्कि कर्तव्य-कर्मके फलका त्याग है और दूसरे अर्थात् काम्य कर्मका त्याग तो है ही। ऐसे त्यागीको शंकाएँ नहीं उठतीं। उसकी भावना शुद्ध होती है और वह सुविधा-असुविधाका विचार नहीं करता।

जो कर्म-फलका त्याग नहीं करते हैं, उन्हें तो अच्छे-बुरे फल भोगने ही पड़ते हैं। इससे वे बंधनमें पड़े रहते हैं। फलत्यागी बंधनमुक्त हो जाता है।

और कर्मके विषयमें मोह क्या? अपने कर्तापनका अभिमान मिथ्या है। कर्ममात्रकी सिद्धिमें पाँच कारण होते हैं - स्थान, कर्ता, साधन, क्रियाएँ और यह सब होनेपर भी अंतिम दैव है।

यह समझकर मनुष्यको अभिमानका त्याग करना चाहिए। अहंता छोड़कर कुछ भी करनेवालेके बारेमें कहा जा सकता है कि वह करते हुए भी नहीं करता है; क्योंकि उसे वह कर्म बंधनकर्ता नहीं होता। ऐसे निरभिमान, शून्यवत् बने हुए मनुष्यके विषयमें कह सकते हैं कि वह मारते हुए भी नहीं मारता है। इसके मानी यह नहीं होते कि कोई मनुष्य शून्यवत् होते हुए भी हिंसा करता है और अलिप्त रहता है, निरभिमानीको हिंसा करनेका प्रयोजन ही क्या है।

कर्मकी प्रेरणामें तीन वस्तुएँ होती हैं - ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञान और उसके तीन अंग होते हैं - इंद्रियाँ, क्रिया और कर्ता। जो करना है, वह ज्ञेय है। जो उसकी रीति है, वह ज्ञान है और जाननेवाला जो है, वह परिज्ञाता है। इस प्रकार प्रेरणा होनेके बाद कर्म होता है। उसमें इंद्रियाँ कारण होती हैं, जो करनेको है, वह क्रिया और उसका करनेवाला जो है, वह कर्ता है। इस प्रकार विचारमेंसे आचार होता है। जिसके द्वारा हम प्राणीमात्रमें एक ही भाव देखें, अर्थात् सब कुछ भिन्न-भिन्न लगते हुए भी गहराईमें उतरनेपर एक ही भासित हों तो वह सात्त्विक ज्ञान है।

इससे उलटा, जो भिन्न दिखाई देता है, वह भिन्न ही भासित हो तो वह राजस ज्ञान है।

और जहाँ कुछ पता ही नहीं लगता और सब बिना कारणके गड़बड़ लगता है, वह तामस ज्ञान है।

ज्ञानके विभागकी भाँति कर्मके भी विभाग हैं। जहाँ फलेच्छा नहीं है, राग-द्वेष नहीं है, वह कर्म सात्त्विक है। जहाँ भोगकी इच्छा है, जहाँ 'मैं करता हूँ' यह अभिमान है और इससे जहाँ हो-हल्ला है, वह राजस कर्म है। जहाँ परिणामकी, हानिकी या हिंसाकी, शक्तिकी परवाह नहीं है और जो मोहके वश होकर होता है, वह तामस कर्म है।

कर्मकी भाँति कर्ता भी तीन तरहके समझने चाहिए। सात्त्विक कर्ता वह है, जिसे राग नहीं है, अहंकार नहीं है, तथापि जिसमें दृढ़ता है, साहस है, और जिसे अच्छे-बुरे फलसे हर्ष-शोक नहीं है। राजस कर्तामें राग होता है, लोभ होता है, हिंसा होती है, हर्ष-शोक तो जरूर ही होता है, तो फिर कर्म-फलकी इच्छाका तो कहना ही क्या? और तामस कर्ता अव्यवस्थित, दीर्घसूत्री, हठी, शठ, आलसी, संक्षेपमें कहा जाय तो संस्काररहित होता है।

बुद्धि, धृति और सुखके भी भिन्न-भिन्न प्रकार जानने योग्य हैं।

सात्त्विक बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और बंध-मोक्ष आदिका सही भेद करती और जानती है। राजसी बुद्धि यह भेद करने तो चलती है, पर गलत या विपरीत कर लेती है और तामसी बुद्धि तो धर्मको अधर्म मानती है। सब उल्टा ही निहारती है।

धृति अर्थात् धारणा, कुछ भी ग्रहण करके उससे लगे रहनेकी शक्ति। यह शक्ति अल्पाधिक प्रमाणमें सबमें है। यदि यह न हो तो जगत् एक क्षण भी न टिक सके। अब जिसमें मन, प्राण और इंद्रियोंकी क्रियाकी समता है, समानता है और एक निष्ठा है, वहाँ धृति सात्त्विकी है और जिसके द्वारा मनुष्य धर्म, काम और अर्थको आसाक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है। जो धृति मनुष्यको निंदा, भय, शोक, निराशा, मद वगैरह नहीं छोड़ने देती, वह तामसी है।

सात्त्विक सुख वह है, जिसमें दु:खका अनुभव नहीं है, जिसमें आत्मा प्रसन्न रहता है, जो शुरूमें जहर-सा लगनेपर भी, परिणाममें, अमृतके समान ही है। विषयभोगमें, जो शुरूमें मधुर लगता है, पर बादको जहरके समान हो जाता है, वह राजस सुख है और जिसमें केवल मूर्च्छा, आलस्य, निद्रा ही है, वह तामस सुख है।

इस प्रकार सब वस्तुओंके तीन हिस्से किये जा सकते हैं। ब्राह्मणादि चार वर्ण भी इन तीन गुणोंके अल्पाधिक्यके कारण हुए हैं। ब्राह्मणके कर्ममें शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता होनी चाहिए। क्षत्रियोंमें शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें पीछे न हटना, दान, राज्य चलानेकी शक्ति होनी चाहिए। खेती, गो-रक्षा और व्यापार वैश्यका कर्म है और शूद्रका सेवा। इसका यह मतलब नहीं कि एकके गुण दूसरेमें नहीं होते, अथवा इन गुणोंको हासिल करनेका उसे हक नहीं है; पर उपर्युक्त भाँतिके गुण या कर्मसे उस-उस वर्णकी पहचान हो सकती है। यदि हरएक वर्णके गुण-कर्म पहचाने जायूँ तो परस्पर द्वेष-भाव न हो, स्पर्द्धा न हो। ऊँच-नीचकी भावनाकी यहाँ कोई गुंजाइश नहीं है; बल्कि सब अपने स्वभावके अनुसार निष्काम भावसे अपने कर्म करते रहें तो उन कर्मोंको करते हुए वे मोक्ष के अधिकारी हो जाते हैं। इसीलिए कहा है कि परधर्म चाहे सरल लगता हो, स्वधर्म चाहे खोखला लगता हो, तो भी स्वधर्म अच्छा है। स्वभावजन्य कर्ममें पाप न होनेकी संभावना है, क्योंकि उसीमें निष्कामताकी

पाबंदी हो सकती है, दूसरा करनेकी इच्छामें ही कामना आ जाती है। बाकी तो जैसे अग्निमात्रमें धुँआ है, वैसे ही कर्ममात्रमें दोष तो अवश्य है; पर सहजप्राप्त कर्मफलकी इच्छाके बिना होते हैं, इसलिए कर्मका दोष नहीं लगता।

जो इस प्रकार स्वधर्मका पालन करता हुआ शुद्ध हो गया है, जिसने मनको वशमें कर रखा है, जिसने पाँच विषयोंको छोड़ दिया है, जिसने राग-द्वेषको जीत लिया है, जो एकांतसेवी अर्थात् अंतरध्यानी रह सकता है, जो अल्पाहार करके मन, वचन, कायाको अंकुशमें रखता है, ईश्वरका ध्यान जिसे बराबर बना रहता है, जिसने अहंकार, काम, क्रोध, परिग्रह इत्यादि तज दिये हैं, वह शांत योगी ब्रह्मभावको पाने योग्य है। ऐसा मनुष्य सबके प्रति समभाव रखता है और हर्ष-शोक नहीं करता, ऐसा भक्त ईश्वर-तत्त्वको यथार्थ जानता है और ईश्वरमें लीन हो जाता है। इस प्रकार जो भगवान् का आश्रय लेता है, वह अमृत पद पाता है। इसलिए भगवान् कहते हैं - "सब मुझे अर्पण कर मुझमें परायण हो और विवेक-बुद्धिका आश्रय लेकर मुझमें चित्त पिरो दे। ऐसा करेगा तो सारी विडंबनाओंसे छूट जायगा, पर जो अहंकार रखकर मेरी नहीं सुनेगा तो विनाशको प्राप्त होगा। सौ बातकी एक बात तो यह है कि सभी प्रपंचोंको त्यागकर मेरी शरण ले तो तू पापमुक्त हो जायगा। जो तपस्वी नहीं है, भक्त नहीं है, जिसे सुननेकी इच्छा नहीं है और जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है, उसे यह रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें नहीं कहना चाहिए। तथापि जो मेरा गुह्य ज्ञान मेरे भक्तोंको देगा, वह मेरी भक्ति करनेके कारण अवश्य मुझे पायेगा।"

अंतमें संजय धृतराष्ट्रसे कहता है - जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं, जहाँ धनुर्धारी पार्थ हैं, वहाँ श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है।

यहाँ कृष्णको योगेश्वर विशेषण दिया गया है। इससे उसका शाश्वत अर्थ, शुद्ध अनुभव ज्ञान किया गया है और धनुर्धारी पार्थ कहकर यह बतलाया गया है कि जहाँ ऐसे अनुभवसिद्ध ज्ञानको अनुसरण करनेवाली क्रिया है, वहाँ परम नीतिकी अवरोधिनी मनोकामना सिद्ध होती है।

* * * * *